

बौद्ध धर्म का विकास

डॉ० नन्द कुमार मिश्रा

(P.D.F.)

प्रा.भा. इ.सं.एवं पुरातत्व अध्ययनशाला
जीवाजी विश्वविद्यालय ग्वालियर

प्रागैतिहासिक काल से ही भारत नाना प्रकार की जातियों और संस्कृतियों का आश्रय स्थल रहा है। इनकी विभिन्न प्रवृत्तियों, जीवन विधाओं के संघर्ष और समन्वय के द्वारा भारतीय इतिहास की प्रगति एवं संस्कृति का विकास हुआ है। इस क्रम में ई०पू० छठी शताब्दी का काल भारतीय इतिहास में बौद्धिक क्रांति अथवा महान परिवर्तन का काल माना जाता है। इस समय मध्य गंगाघाटी क्षेत्र में जहाँ एक तरफ साम्राज्यवाद का उदय हो रहा था, एक विशाल सुसंगठित साम्राज्य की नींव रखी जा रही थी, लगभग उसी समय अनेक नये धार्मिक सम्प्रदायों का भी उदय हुआ। ये धार्मिक सम्प्रदाय धर्मसुधार आन्दोलन के रूप में स्थापित हुए। विश्व के अन्य भागों में होने वाले धार्मिक आन्दोलनों की तरह ही ई०पू० छठी शताब्दी का भारत का धार्मिक आन्दोलन भी सुधारवादी स्वरूप का ही था। जिस प्रकार प्राचीन काल में चीन, ईरान और यूनान के धर्म सुधार आन्दोलन के नेताओं और मध्यकालीन यूरोप के धर्म सुधारकों— जॉन विक्लिफ, मार्टिनलूथर, ज्विंगली तथा काल्विन आदि ने तत्कालीन धर्म में व्याप्त बुराइयों और पुरोहितों के अत्याचारों से जनता को छुटकारा दिलाया, लगभग उसी प्रकार का कार्य छठी शताब्दी ई०पू० में भारतीय धर्म—सुधारकों ने भी किया। इस सुधारवादी धार्मिक प्रक्रिया के परिणामस्वरूप भारत में एक नवीन धार्मिक सम्प्रदाय— बौद्ध धर्म का उदय हुआ, जिसने भारतीय इतिहास और संस्कृति को गहरे रूप से प्रभावित किया। बौद्ध धर्म ने तत्कालीन समाज में व्याप्त कुरीतियों एवं रूढ़ियों पर प्रहार किया तथा अहिंसा पर बल दिया। बौद्ध धर्म के संस्थापक महामानव गौतम बुद्ध ने वैदिक धर्म की कुरीतियों पर आघात करने के साथ—साथ समकालीन अन्य अतिवादी धार्मिक सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का खण्डन कर बौद्ध धर्म को सबके लिये सहज और ग्राह्य बनाया।

बौद्ध धर्म का अभ्युदय : एक आध्यात्मिक—बौद्धिक क्रांति

ई०पू० छठी शताब्दी का काल सम्पूर्ण विश्व में व्यापक धर्मसुधार का युग था।^१ इस काल में चीन, यूनान और भारत में बौद्धिक और आध्यात्मिक प्रतिभा का आश्चर्यजनक प्रस्फुटन देखकर ऐसा मालूम होता है कि मानो पिछली अनेक सहस्राब्दियों की पर्येषणा के बाद मानव जाति के लिये अभिसम्बोधि का युग उपस्थित हुआ हो। इस व्यापक आध्यात्मिक—बौद्धिक क्रांति के लिये ऐतिहासिक 'कार्य—कारण सम्बन्ध' का समुचित निर्देश करना आसान नहीं है। भौतिकवादी दृष्टिकोण के अनुसार मानव—चेतना के परिवर्तनों का कारण सामाजिक धरातल पर खोजना चाहिए। वहीं आध्यात्मवादी दृष्टि के अनुसार चेतनागत क्रांति ज्ञान के स्वाधीन विकास अथवा अतिमानवीय प्रेरणा से ही उत्पन्न होती है। इन दोनों दृष्टियों में से किसी की भी अवहेलना नहीं की जा सकती है। सच तो यह है कि दोनों एक दूसरे के सापेक्ष हैं, क्योंकि जहाँ एक ओर भौतिक—सामाजिक परिवर्तन के पीछे भी अन्ततोगत्वा नवीन आविष्कार और उनकी जननी प्रतिभा कारण रूप में विद्यमान है, वहीं दूसरी तरफ सामाजिक धरती के अनुकूल न होने पर किसी भी आध्यात्मिक बीज का प्रबल ऐतिहासिक परम्परा के रूप में प्ररोह असंभव है। ई०पू० छठी एवं पाँचवी शताब्दियों में अनेक महापुरुषों और मनीषियों के चिन्तन और उपदेश के साथ ही महत्वपूर्ण आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तन भी दिखाई देते हैं, जिन्होंने न्यूनाधिक मात्रा में कुछ सामाजिक वर्गों के लिये क्लेश और उसके द्वारा जिज्ञासा के भाव को जन्म दिया होगा। सामाजिक परिवर्तन और जिज्ञासा का अनुभव निःसन्देह धर्म और दर्शन की नवीन विचारधारा की खोज से सम्बन्ध रखता है, किन्तु सामाजिक क्रान्ति नवीन चिन्तन की केवल अपेक्षामात्र को जन्म देती है, उसके विषय और प्रकार का निर्णय नहीं करती। वस्तुतः संस्कृति के आध्यात्मिक पक्ष के विकास में प्रतिभा बीज का कार्य करती है और सामाजिक स्थिति भूमि का। दोनों के सहयोग से ही नवीन आध्यात्मिक परम्पराएँ बनती और बढ़ती हैं। तथागत की देशना में उनकी विशिष्ट आध्यात्मिक अनुमति जितनी और जिस रूप में अभिव्यक्त हुई, उसमें तत्कालीन समाज और चिन्तन का हाथ अवश्य ही था।

उपनिषदों से तथा प्राचीन बौद्ध और जैन ग्रंथों से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि छठी शताब्दी ई०पू० का काल एक बौद्धिक और आध्यात्मिक क्रान्ति का युग था। इस समय परम्परागत वैदिक धर्म एवं समाज में व्याप्त कुरीतियों, पाखण्डों, कुप्रथाओं, छुआ-छूत, ऊँच-नीच आदि के विरुद्ध आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। ब्राह्मण तथा ब्राह्मणेत्तर श्रमणों, परिव्राजकों, भिक्षुओं आदि के अनेक सम्प्रदाय अस्तित्व में आये जिन्होंने विभिन्न मतों एवं वादों का प्रचार किया। यह आन्दोलन कोई आकस्मिक घटना नहीं थी वरन् यह चिरकाल से संचित हो रहे असंतोषों का ही परिणाम था, जिसकी चरम परिणति बौद्ध धर्म का अभ्युदय था। जिसने नवीन कृषि प्रणाली के विकास में बाधक वैदिक यज्ञों का विरोध किया, अपने समकालीन अनेक परिव्राजक-सम्प्रदायों के अतिवादी तथा अव्यवस्था जनक मतों का खण्डन किया और साथ ही, नई उत्पादन तकनीक पर विकसित हो रहे समाज को वैचारिक तथा धार्मिक समर्थन भी दिया।

बौद्ध धर्म के अभ्युदय के लिये उत्तरदायी कारक : धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक—

छठी शताब्दी ई०पू० में बौद्ध धर्म के अभ्युदय की पृष्ठभूमि उत्तरवैदिक काल के अन्त तक तैयार हो चुकी थी। तत्कालीन सामाजिक विद्वेष के वातावरण, आर्थिक क्षेत्र में हुए परिवर्तनों एवं आडम्बर और यज्ञबलि-प्रधान धार्मिक मान्यताओं ने इस नवीन धर्म की भूमिका तैयार कर दी। छठी शताब्दी ई०पू० में बौद्ध धर्म एक सुधार आन्दोलन के रूप में आरम्भ हुआ, जिसका नेतृत्व गौतम बुद्ध ने किया। बौद्ध धर्म के अभ्युदय के लिये उत्तरदायी कारणों का अवलोकन करने पर हमें निम्नलिखित कारक इस हेतु उत्तरदायी प्रतीत होते हैं —

छठी शताब्दी ई०पू० में बौद्ध धर्म के अभ्युदय का एक प्रधान कारण था— तत्कालीन धार्मिकव्यवस्था के विरुद्ध असंतोष की भावना। इस समय तक धार्मिक जीवन आडम्बर पूर्ण एवं यज्ञ और बलि प्रधान बन चुका था। तत्कालीन समाज में लोगों की ऐसी धारणा थी कि यज्ञ के माध्यम से देवतागण प्रसन्न होते हैं तथा व्यक्ति को अभीप्सित फल प्रदान करते हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि लोग यज्ञ

की तरफ अत्यधिक प्रेरित हुए तथा यज्ञों का महात्मय काफी बढ़ गया। सूत्र साहित्य में हमें बहुसंख्यक श्रोत यज्ञों का वर्णन प्राप्त होता है, जिसमें दशपर्णमास, चातुर्यमास, वैश्वदेव, शुनासीरीय, अग्न्याध्येय, अग्निष्टोम, राजसूय, वाजपेय एवं अश्वमेध आदि विशेष प्रसिद्ध थे। इन यज्ञों की क्रियायें अत्यधिक जटिल थीं। पुरोहितों की सहायता के बिना इनका सकुशल सम्पादन संभव नहीं था। इन श्रोतयज्ञों ने ब्राह्मण-पुरोहितों को और भी अधिक प्रतिष्ठा प्रदान की। ब्राह्मण ग्रन्थों में तो यहाँ तक वर्णित है कि यदि पुरोहित यज्ञ न कराता हो तो सूर्य उदय नहीं हो सकता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज में ब्राह्मण-पुरोहित वर्ग अत्यधिक प्रतिष्ठित स्थिति में था, जिसके खिलाफ क्षत्रिय वर्ग में प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। तत्कालीन समाज में यज्ञ की शक्ति पर लोगों का इतना अधिक विश्वास जम गया था कि उसके समक्ष यज्ञ में पूज्य देवता की इच्छा भी गौण हो गयी थी। लोगों की यह धारणा थी कि अमुक यज्ञ करने पर इस हेतु निर्धारित फल देने के लिये देवता भी बाध्य हैं। मनुष्य के सभी कर्मों में याज्ञिक क्रिया सर्वश्रेष्ठ थी। यज्ञ के मूल में यह धारणा भी काम कर रही थी कि बलि प्राप्त कर देवता जितना सन्तुष्ट होते हैं, उसी अनुपात में यज्ञकर्ता को फल प्रदान करते हैं। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि अधिकाधिक संख्या में अग्निकुण्ड में पशुओं की बलि दी जाने लगी। तत्कालीन समय में महायज्ञों में गाय, वृषभ, बछड़े, बछिया, बकरा, भेंड़, सूअर आदि पशुओं की तथा कुछ अन्य पक्षियों की बलि दिये जाने के प्रमाण तत्कालीन साहित्य में प्राप्त होते हैं। इससे यह विदित होता है कि जिन पशुओं की बलि देने की प्रथा वैदिक काल में नहीं थी अब उनकी भी बलि दी जाने लगी थी। इस प्रकार बौद्ध धर्म के उदय के पूर्व पशु यज्ञ उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। तत्कालीन समय में कृषि कार्य हेतु पशुओं की उपयोगिता बढ़ जाने से सामान्य जन उनके यज्ञों में मारे जाने के विरुद्ध हो गये तथा समाज में असन्तोष की भावना पैदा होने लगी।

उत्तर वैदिककाल के अन्त तक आते-आते यज्ञों में आडम्बर के अत्यधिक बढ़ जाने से अब यज्ञ केवल धनाढ्यों तक सीमित हो गया था। उसमें सही भावनाओं और विश्वासों का अभाव हो गया था। यज्ञों की व्यापकता एवं जटिलता के कारण

पुरोहितों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती चली गयी। श्रौत सूत्रों तथा गृह्यसूत्रों में अनेक यज्ञों तथा 16-17 प्रमुख पुरोहितों का उल्लेख प्राप्त होता है। सत्रह पुरोहितों द्वारा किये जाने वाले यज्ञ, कितने अपव्ययात्मक होते रहे होंगे, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। बिना दान-दक्षिणा के यज्ञ अपूर्ण एवं निष्फल माना जाने लगा था। व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तक प्रत्येक संस्कार के साथ ब्राह्मण धर्म में अब एक अनुष्ठान का होना अनिवार्य सा हो गया था। अब यज्ञ और अनुष्ठान कार्य में अधिकाधिक धन व्यय होने लगा था। अतः लोग आत्मिक शान्ति के लिये अब याज्ञिक कर्मकाण्डों के स्थान पर नये उपायों की ओर अग्रसर होने लगे, जिसमें हठयोग और तपस्या मुख्य थी। अब लोगों में यह विश्वास अत्यधिक तेजी से फैल रहा था कि कठोर तपस्या करने से ऋद्धि-सिद्धि की प्राप्ति हो सकती है। अतः मनुष्य अब आत्मिक शान्ति की प्राप्ति के लिये तरह-तरह की तपस्या करने लगे। तत्कालीन धार्मिक जीवन में तामसी तप का प्रसार अधिक हो गया। किन्तु जनमानस को हठयोग एवं तपस्या से भी आत्मिक शान्ति प्राप्त नहीं हुई। अतः अब लोग आत्मा एवं परमात्मा के गूढ़ विषयों पर विचार की अग्रसर हुए तथा उपनिषदों का अनुशीलन करना प्रारम्भ किया। किसी ने उपनिषदों में अद्वैतवाद का दर्शन किया तो किसी ने विशिष्टाद्वैत का। इस प्रकार तत्कालीन समाज में अनेक मत मतान्तर हो गये। जनार्दन भट्ट के अनुसार गौतम बुद्ध के जन्म के समय समाज में मुख्यतः तीन विचार धारायें अति प्रबलता के साथ प्रचलित थीं। प्रथम, यज्ञ और बलिदान, द्वितीय, हठयोग और तपस्या तथा तृतीय, ज्ञानमार्ग और दार्शनिक विचार। किन्तु इनके नीचे कुछ छोटी विचारधारायें यथा-जादू-टोना, भूत-प्रेत, सर्प एवं वृक्ष-पूजा का भी महात्म्य था। इस प्रकार तत्कालीन युग में जहाँ समाज के निम्न वर्ग को मान्यता देकर धर्म को एक व्यापक स्वरूप प्रदान करने की आवश्यकता थी वही ब्राह्मण धर्म जटिल से जटिलतम की तरफ अग्रसर था। ब्राह्मण धर्म में जटिलता को प्रश्रय मिलने के कारण समाज एक संकुचित विचारधारा की तरफ मुड़ने लगा था। कुल मिलाकर तत्कालीन समाज में धार्मिक व्यवस्था के विरुद्ध असंतोष की भावना जागृत हो रही थी।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि छठी शताब्दी ई०पू० तक आते-आते भारतीय जनसामान्य का धार्मिक जीवन आडम्बरपूर्ण एवं यज्ञ और बलिप्रधान बन चुका था। इस समय तक धार्मिक क्रिया-कलाप इतने जटिल और आडम्बर पूर्ण हो चुके थे कि किसी भी व्यक्ति के लिये उन्हें पुरोहितों की मदद के बिना पूरा करना संभव नहीं था। अतः धार्मिक अनुष्ठानों को पूरा करने के लिये पुरोहितों की नितान्त आवश्यकता थी। पुरोहितों ने समस्या को जटिल बनाने और अपना महत्व बढ़ाने के लिये मंत्रों के शुद्ध उच्चारण पर भी बल दिया। जनमानस में यह भावना बैठा दी गयी थी कि गलत मंत्रोच्चारण के अनिष्टकारी परिणाम निकलेंगे। फलतः धार्मिक मामलों का नियंत्रण पूर्णतः पुरोहितों के हाथों में चला गया। इससे उनकी शक्ति और सम्पत्ति में वृद्धि हुई। यज्ञों के सफल सम्पादन के परिणामस्वरूप दान-दक्षिणा बढ़ी। इतना ही नहीं, यज्ञों में बड़े पैमाने पर पशुओं की बलि ने कृषि व्यवस्था को प्रभावित किया, जिसका कुप्रभाव अर्थव्यवस्था पर भी पड़ा। ऐसी स्थिति में जनसाधारण में उस समय प्रचलित याज्ञिक कर्मकाण्डों एवं पूजापाठों के विरुद्ध प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक ही था। इस प्रतिक्रिया का पूर्ण परिपाक हमें उपनिषदों में देखने को मिलता है। उपनिषद यज्ञों तथा उनमें की जाने वाली पशुबलि की कड़ी आलोचना करते हैं। मुण्डक उपनिषद में यज्ञों को टूटी नौकाओं के समान तथा उनके कर्मकाण्डों को अल्पफल वाला कहा गया है। बताया गया है कि जो मूर्ख इनकी प्रशंसा करता है वह बारम्बार जरामृत्यु को प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज याज्ञिक कर्मकाण्डों के विपरीत किसी ऐसे धर्म की खोज में था, जो कि आडम्बर विहीन विधि से आत्मिक शान्ति दिला सके। ऐसी स्थिति में बुद्ध, जनमानस के लिये उपयुक्त एक सरल धर्म की खोज में अग्रसर हुए। फलतः बौद्ध धर्म के रूप में एक नवीन धर्म का अभ्युदय हुआ।

बौद्ध धर्म के अभ्युदय के लिये तत्कालीन सामाजिककारण भी कम उत्तरदायी न थे। वर्णव्यवस्था की जटिलता एवं तनावपूर्ण सामाजिक जीवन ने बौद्ध धर्म के उदय में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। वैदिकयुगीन वर्ण-व्यवस्था कालान्तर में जटिल से जटिलतम होते हुए रूढ़िवादिता में परिवर्तित हो गयी थी। बौद्ध धर्म के अभ्युदय के पूर्व तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था कर्म की अपेक्षा जन्म पर आधारित जाति में

विश्वास करने लगी थी। जाति-भेद सम्बन्धी मनुष्य की धारणाएँ रूढ़ होती गयीं और पेशे वंशानुगत हो गये।

ऋग्वैदिकयुगीन समाज प्रारम्भ में वर्ग-विभेद से रहित था। सभी व्यक्ति 'जन' के सदस्य समझे जाते थे तथा सबकी समान सामाजिक प्रतिष्ठा थी। प्रारम्भ में हम तीन वर्णों का उल्लेख पाते हैं – ब्रह्म, क्षत्र तथा विश। जब आर्य भारत में आये तब उन्हें अनार्यों से संघर्ष करना पड़ा। इसके लिये कुछ ऐसे योद्धाओं की आवश्यकता हुई जो असुरों से उनकी रक्षा कर सकें। इस कार्य के लिये उन्होंने अपने में से कुछ उत्साही वीरों को चुना और उन्हें 'क्षत्र' नाम दिया। क्षत्र का अर्थ है 'क्षत्' अर्थात् हानि से रक्षा करने वाला। ऋग्वेद में 'क्षत्र' शब्द का प्रयोग सैन्य बल तथा राज्य क्षेत्र एवं 'क्षत्रिय' का प्रयोग उसमें निवास करने वालों के लिये हुआ है। इसी प्रकार यज्ञों को कराने के लिये जो व्यक्ति चुने गये उन्हें 'ब्रह्म' कहा गया। यह विद्वान तथा गणमान्य लोगों का वर्ग था। कहीं-कहीं ब्राह्मण शब्द का प्रयोग 'पुरोहित' के लिये भी मिलता है। शेष जनता को 'विश' नाम से सम्बोधित किया जाता था। ऋग्वेद में 'विश' शब्द का उल्लेख विविध अर्थों, जैसे जनजातीय समुदाय, सन्निवेश, मनुष्यों के समूह, सामान्य प्रजा आदि में किया गया है। कालान्तर में यह वर्ग उत्पादन की प्रक्रिया से सम्बद्ध हो गया। उल्लेखनीय है कि आरम्भ में इन तीनों वर्णों में कोई कठोरता नहीं थी। एक ही परिवार के लोग ब्रह्म, क्षत्र या विश हो सकते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यों ने अनार्यों को परास्त कर अपने सामाजिक संगठन में उन्हें स्थान दिया और इस प्रकार कालान्तर में एक चौथा वर्ण 'शूद्र' नाम से समाज में उत्पन्न हो गया। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के पुरुषसूक्त में हमें सर्वप्रथम 'शूद्र' शब्द का उल्लेख मिलता है। इसमें चारों वर्णों की उत्पत्ति एक 'विराट पुरुष' के विभिन्न अंगों से बतायी गयी है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहु राजन्यः कृतः।

उरु तदस्य यद्वैश्यः पदभ्याम् शूद्रो अजायत।।

अर्थात् विराट पुरुष के मुख से ब्राह्मण की, बाहु से क्षत्रिय की, उरु से वैश्य की और पैर से शूद्रों की उत्पत्ति हुई। चातुर्यवर्णव्यवस्था का भारतीय इतिहास में यह

प्राचीनतम उल्लेख है। परन्तु इस समय भी वर्णों में जटिलता नहीं आयी थी और वर्ण जन्मजात न होकर व्यवसाय पर आधारित होते थे। व्यवसाय परिवर्तन संभव था। ऋग्वेद में एक स्थान पर एक ऋषि ने कहा है —

कारुरहं ततोभिषगुपल प्रक्षिणी नना ।

नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिमेन्द्रायेन्द्रो परिस्रव ।।

अर्थात् मैं कवि हूँ। मेरा पिता वैद्य है तथा मेरी माता अन्न पीसने वाली है। साधन भिन्न हैं परन्तु सभी धन की कामना करते हैं। इससे स्पष्ट है कि व्यवसाय आनुवांशिक नहीं थे। वर्ण का आधार जन्म न होकर कर्म था। व्यक्ति विशेष को यह अधिकार प्राप्त था कि वह अपने कर्मानुसार वर्ण का सदस्य बन सके। तीनों उच्च वर्णों के मध्य स्पष्ट विभाजन नहीं था। यदि था भी तो वह आर्य तथा दास वर्ण के बीच था। परन्तु कालान्तर में वर्णों में क्रमशः कठोरता आने लगी तथा उत्तरवैदिक काल के अन्त तक आते आते वे जाति के रूप परिणत हो गये। व्यवसाय परिवर्तन अब कठिन हो गया था। धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में अब चारों वर्णों — ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्तव्यों, अधिकारों और स्थिति में विभेद किया जाने लगा। कालान्तर में मनुष्य की जातिभेद सम्बन्धी धारणाएँ उत्तरोत्तर रूढ़ होती चली गयी। शतपथ ब्राह्मण में हमें चारों वर्णों की अंत्येष्टि के लिये चार प्रकार के टीलों का उल्लेख प्राप्त होता है। प्रत्येक वर्ण के उपयोग के लिये अलग-अलग रंग के यज्ञोपवीत का विधान मिलता है। सम्बोधन के ढंग भी अलग-अलग मिलते हैं। ब्राह्मण को 'एहि' (आइये), क्षत्रिय को 'आगहि' (आओ), वैश्य को 'आद्रव' (जल्द आओ) तथा शूद्र को 'आधाव' (दौडकर आओ) कहकर सम्बोधित किये जाने का वर्णन मिलता है। इन सबसे स्पष्ट है कि वर्ण-भेद उत्तरोत्तर बढ़ते जा रहे थे। कालान्तर में मनुष्य के सामाजिक जीवन में जातिभेद सम्बन्धी धारणाओं की जड़े इतनी गहराई तक प्रविष्ट हो गयी थीं कि देवगण भी चातुर्यवर्ण में विभाजित किये जाने लगे।

ऐतरेय ब्राह्मण में हमें चारों वर्णों के लिये अलग-अलग कर्तव्यों का वर्णन मिलता है। 'ब्राह्मणों' को दान लेने वाला (अदायी), सोमापायी, कार्यशील तथा

इच्छानुसार भ्रमण करने वाला कहा गया है। कुछ उल्लेखों में ब्राह्मण को राजा से भी बड़ा बताया गया है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि राजा अपनी शक्ति ब्राह्मण से ही प्राप्त करता है। ऐतरेय ब्राह्मण में 'क्षत्रिय' को राजा तथा भूमि का स्वामी कहा गया है। वे देश की रक्षा के लिये युद्ध करते तथा प्रजा से कर लेते थे। तीसरा वर्ण 'वैश्य' को कर देने वाला (अन्यस्यवलिकृत) कहा गया है। ये कृषि, व्यापार और उद्योग-धन्धो में लगे थे। इन्हे 'आदय' (भक्षणीय) कहा गया है जिससे तात्पर्य है कि वैश्य सामाजिक पोषण के आधार थे। चौथा वर्ण 'शूद्र' को उपर्युक्त तीनों वर्णों का सेवक (अन्यस्य प्रेण्यः) कहा गया है। इस प्रकार समाज में चारों वर्णों के अलग-अलग कर्तव्य निर्धारित थे। अपने साधनामय जीवन तथा ज्ञान के कारण ब्राह्मणों की सर्वोपरि प्रभुता स्थापित हुई। धार्मिक यज्ञ सम्पन्न कराने का कार्य ब्राह्मण ही करते थे। ऐतरेय ब्राह्मण से यह विदित होता है कि सभी धार्मिक एवं याज्ञिक कृत्य केवल ब्राह्मण ही सम्पन्न करा सकता था। उसके सहयोग के बिना याज्ञिक कार्यों का सम्पादन असम्भव था। चूँकि तत्कालीन समाज में जनसाधारण वैदिक यज्ञों में आस्था रखता था, अतः यज्ञों को कराने के लिये समाज में पुरोहित वर्ग समादृत हुआ और पुरोहित के पद पर ब्राह्मण की नियुक्ति की जाने लगी। याज्ञिक के रूप में उन्हें गाये, वस्त्राभूषण और अनेकानेक बहुमूल्य सामग्री प्राप्त होती थी। इससे ब्राह्मणों की स्थिति सुदृढ़ होती गई। स्थिति सुदृढ़ होने से समाज में ब्राह्मणों का वर्चस्व स्थापित हुआ। इस श्रेष्ठता का दुष्परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण एवं क्षत्रिय के मध्य सामाजिक प्रतिष्ठा हेतु प्रतिस्पर्द्धा की भावना बलवती हो उठी। रिज डेविड्स के अनुसार बुद्ध के पूर्व ही आर्यों में वर्ण संघर्ष बढ़ गया था। उन्होंने क्षत्रियों को इस युग के एक ब्राह्मण विरोधी सामाजिक धार्मिक आन्दोलन का नेता माना है।

समाज में वर्णक्रम के अनुसार वैश्यों का स्थान तीसरा था। उनका कार्य कृषि, पशुपालन एवं वाणिज्य था। ब्राह्मण एवं क्षत्रियों की तरह वैश्य भी अपनी सामाजिक मान-मर्यादा के प्रति सचेत हो गये थे। वैदिक युग में कृषि कार्य में नवीन तकनीकि का प्रयोग न होने से यद्यपि उनकी स्थिति दयनीय थी, ब्राह्मण ग्रन्थों में सूद पर ऋण लेनाभी निन्दनीय बताया गया है, जिससे वाणिज्य एवं

व्यापार की भी अवनति हुई। तथापि छठी शताब्दी ई०पू० में कृषि कार्य में नवीन तकनीकी के प्रयोग से वैश्यों की स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ। इस युग में लोहे के प्रयोग के बढ़ने से पैदावार में अभूतपूर्व वृद्धि हुई जिससे वैश्यों ने समाज में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया। आर्थिक स्थिति में उत्तरोत्तर वृद्धि होने के परिणामस्वरूप सम्भवतः वे भी किसी ऐसे धर्म की खोज में अग्रसर हुए होंगे जो उन्हें अधिकाधिक सामाजिक प्रतिष्ठा दिला सकने में समर्थ हो। इस दृष्टि से बौद्ध धर्म पर्याप्त रूप से सहायक सिद्ध हुआ। महावग्ग में वाराणसी के श्रेष्ठिपुत्र यश को कुलपुत्र कहा गया है। यह वैश्यों की सामाजिक प्रतिष्ठा का परिचायक है। इससे स्पष्ट होता है कि बौद्ध धर्म ने वैश्यों की सामाजिक प्रतिष्ठा में काफी अभिवृद्धि की। यही कारण है कि बौद्धधर्म के उदय एवं विकास में वैश्यों ने पर्याप्त आर्थिक सहयोग दिया था। मगध के एक श्रेष्ठि द्वारा भिक्षुसंघ को अस्सी करोड़ का आकर्षक दान दिये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। इसी तरह श्रावस्ती नगर के प्रमुख श्रेष्ठि अनाथपिण्डक ने जेतवन की सम्पूर्ण भूमि को स्वर्णमुद्राओं से आच्छादित कर क्रय किया था और उसे भिक्षु संघ को दान में दिया था। इस प्रकार वैश्यों ने बौद्ध धर्म के उदय एवं विकास में पर्याप्त सहयोग दिया।

धर्मसूत्रों एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में निम्न जातियों की सामाजिक व्यवस्था का वर्णन प्राप्त होता है इन्हें शूद्र वर्ण के अन्तर्गत माना जाता था। शूद्र मुख्यतः सेवक और मजदूर के रूप में कार्य करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकांश शूद्रों को कृषि से सम्बद्ध कार्यों में नियुक्त किया जाता था। आपस्तम्ब धर्मसूत्र से विदित होता है कि ऐसे शूद्रों के पास इतनी भू-सम्पत्ति नहीं रहती थी कि वे राजा को उसका कर दें। इन्हें भटक और कर्मकार कहा जाता था। कुला मिलाकर समाज में शूद्रों की स्थिति काफी दयनीय थी। उनका मुख्य कर्तव्य उपर्युक्त तीनों वर्णों की सेवा करना था। शतपथ ब्राह्मण में शूद्रों की हीन स्थिति का उल्लेख है। इसमें बताया गया है कि शूद्र अभिषिक्त पुरुष द्वारा सम्बोधन-योग्य नहीं होता था। इससे इस युग में शूद्रों की दयनीय दशा प्रकट होती है।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि छठी शताब्दी ईसा पूर्व तक आते-आते भारतीय समाज स्पष्टतः दो वर्गों सुविधाभोगी और सुविधाविहीन में विभक्त हो गया

था। ब्राह्मण एवं क्षत्रिय सुविधाभोगी और विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग बन गये। एक के पास राजसत्ता थी, तो दूसरे के पास धार्मिक सत्ता। आपसी तालमेल द्वारा ये अपने विशेषाधिकारों की सुरक्षा करते थे, परन्तु समाज के अन्य दो वर्गों – वैश्य और शूद्र –को निम्न दर्जा प्राप्त था। यद्यपि वैश्यों की आर्थिक स्थिति काफी अच्छी थी, कृषि, व्यापार और उद्योग – धन्धों में संलग्न रहने से उनके पास पर्याप्त धन था, राज्य के प्रमुख करदाता भी वही थे, तथापि उनका सामाजिक दर्जा प्रथम दो वर्गों से नीचे था। सबसे बुरी स्थिति तो शूद्रों की थी, जिनको तीनों वर्गों की सेवा करनी पड़ती थी और उनका कोपभाजन बनना पड़ता था। इतना ही नहीं विभिन्न वर्गों में आपसी प्रतिस्पर्धा की भावना भी विद्यमान थी। ब्राह्मण और क्षत्रियों के आपसी सम्बन्ध भी बहुत अच्छे नहीं थे। क्षत्रिय इस बात से असंतुष्ट थे कि शासन का प्रधान होने के बावजूद उनका दर्जा ब्राह्मणों से नीचा था। इतना ही नहीं, ब्राह्मण समुदाय भी क्षत्रियों के विशेषाधिकारों पर प्रहार कर, अपने लिये उन सुविधाओं को प्राप्त करने की कोशिश कर रहा था। ऐसी स्थिति में ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों में वैमनस्य होना स्वाभाविक ही था। क्षत्रिय ऐसी व्यवस्था चाहते थे, जिससे समाज में उनका दर्जा ब्राह्मणों से ऊपर हो सके और वे ब्राह्मणों पर नियंत्रण स्थापित कर सकें। वस्तुतः ऐसी व्यवस्था तभी संभव थी, जब समाज पर से पुरानी धार्मिक मान्यताओं का प्रभाव समाप्त किया जा सके। इसलिए क्षत्रियों ने नवीन धार्मिक सम्प्रदाय को समर्थन दिया ताकि समाज में ब्राह्मणों के स्थान पर अपनी सर्वोच्चता स्थापित कर सकें। वैश्य और शूद्र भी इस व्यवस्था में परिवर्तन चाहते थे। अतः इन सभी वर्गों ने धर्मसुधार आन्दोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी तथा बौद्ध धर्म के अभ्युदय और विकास में अपना महती योगदान दिया।

बौद्ध धर्म के अभ्युदय में तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। वस्तुतः बौद्ध धर्म के उदय में तत्कालीन राजा और राजनीति ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की, जिसका उल्लेख गोविन्द चन्द्र पाण्डेय ने बौद्ध धर्म के उद्भव में किया है। ऋग्वैदिक काल में आर्यों का राजनीतिक आधार 'जन' था। उत्तरवैदिक काल में 'जनपद' का विकास हुआ तथा बौद्ध काल तक आते-आते छोटे-छोटे 'जनपदों' को मिलाकर 'महाजनपदों' का निर्माण हुआ। बौद्ध और जैन

साहित्य में हमें षोडश महाजनपदों का उल्लेख प्राप्त होता है। अंगुत्तर निकाय में तत्कालीन षोडश महाजनपदों के नाम इस प्रकार मिलते हैं— काशी, कौशल, अंग मगध, वज्जि, मल्ल, चेदि, वत्स, कुरु, पांचाल, मत्स्य, शूरसेन, अस्सक, अवन्ति, गन्धार एवं कम्बोज। जैन ग्रन्थ 'भगवती सूत्र' में भी इन 16 महाजनपदों की सूची प्राप्त होती है, परन्तु वहाँ नाम कुछ भिन्न प्रकार से दिये गये हैं, अंग, बंग, मगह, मलय, मालव, अच्छ, वच्छ, कोच्छ, पाढ्य, लाढ, वज्जि, मोलि, काशी, कोशल, अवध एवं सम्भुत्तर। दोनों सूचियों में अंग, मगध, काशी, कोशल, वत्स एवं वज्जि का समान रूप से उल्लेख हुआ है। चुल्लनिदेश में षोडश महाजनपदों की सूची में कलिंग को जोड़ दिया गया है तथा गन्धार के स्थान पर योन का उल्लेख है। महावस्तु में गन्धार तथा कम्बोज के स्थान पर क्रमशः शिवि तथा दशार्ण के नाम मिलते हैं। इसके अतिरिक्त गोविन्द चन्द्र पाण्डेय ने जैन ग्रन्थ विथाहपन्ति का उदाहरण भी प्रस्तुत किया है, जिसमें भिन्न सूची मिलती है, इसमें बंग, पाठ और लाठ के नाम उल्लिखित हैं। इनके अनुसार उस समय जनपद परस्पर संघर्ष गील थे तथा उनकी स्थिति परिवर्तन गील थी। काशी उपनिषद युग में जहाँ एक शक्तिशाली एवं स्वतंत्र राज्य के रूप में जानी जाती थी वही ई०पू० छठी शताब्दी में वह कोसल साम्राज्य का अंग बन गयी। इसी तरह हर्यकवंशी बिम्बिसार के समय में मगध ने अंग जनपद को बलपूर्वक आत्मसात् कर लिया। शाक्यगण कोसल की अधीनता स्वीकार करता था फिर भी विड्ढभ ने उस पर आक्रमण किया। अजातशत्रु ने लिच्छवि गणराज्यों से युद्ध करके उसे अपने अधीन किया।

इस प्रकार बौद्ध धर्म के उदय के समय आर्यावर्त अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। ये राज्य यद्यपि उत्तरवैदिक कालीन राज्यों की अपेक्षा अधिक विस्तृत तथा शक्तिशाली थे तथापि इनमें से कोई भी, देश को राजनैतिक एकता के सूत्र में संगठित करने में समर्थ नहीं था। दूसरे शब्दों में कहें तो छठी शताब्दी ईसा पूर्व के प्रारम्भ में उत्तर भारत में सार्वभौम सत्ता का पूर्णतया अभाव था। जनार्दन भट्ट के अनुसार, लोगों में राजनीतिक स्वतंत्रता का भाव प्रबलता से फैला हुआ था, कोई उनकी स्वतंत्रता में बाधा डालने वाला नहीं था। प्रत्येक गाँव एवं प्रत्येक नगर स्वयं अपना प्रबंध करते थे। गाँव एवं नगर एक प्रकार से छोटे-मोटे प्रजातंत्रात्मक राज्य

के रूप में स्थित थे। अधिकांशतः शासन की बागडोर क्षत्रियों के हाथ में थी। ये वर्ग समाज में प्रथम स्थान पाने के लिये ब्राह्मण वर्ग से प्रतिस्पर्धा कर रहा था। ऐसी स्थिति में इन्होंने ब्राह्मण धर्म की अपेक्षा एक नवीन धर्म को प्रश्रय देना अधिक श्रेयस्कर समझा। फलतः बौद्ध धर्म के अभ्युदय, विकास एवं प्रसार में ये सहायक सिद्ध हुए। इस प्रकार ब्राह्मणों की सर्वोच्चता के विरुद्ध क्षत्रियों का खड़ा होना, बौद्ध धर्म के उद्भव का अन्यतम कारण सिद्ध हुआ।

तत्कालीन भारत में एक नवीन कृषि मूलक अर्थव्यवस्था का आविर्भाव होना, बौद्ध धर्म के अभ्युदय का प्रमुख कारण था। आर्थिक दृष्टि से गंगाघाटी के लिये यह काल नगरीय क्रांति का काल था। इस युग में कृषि में लौह तकनीक के प्रयोग से उत्पादन में वृद्धि हुई। उत्पादन-अधिशेष ने समूची अर्थव्यवस्था को प्रभावित किया। नगरों का तेजी से विकास हुआ तथा व्यापार-वाणिज्य की काफी प्रगति हुई। इस युग में पहले की अपेक्षा कृषि के विकास का संकेत देने वाले नवीन अनाजों यथा माप (उड़द), श्यामक (सांवा, गन्ना, तिल) की खेती के बहुशः उल्लेख मिलते हैं। राम शरण शर्मा के अनुसार उत्पादन अतिरेक से यह स्पष्ट है कि अब अर्थव्यवस्था केवल अपने भरण पोषण के स्वर की न होकर अपेक्षाकृत बढ़े हुए अतिरिक्त उत्पादन से समाज के गैर उत्पादक वर्गों (पुरोहितों, राजन्यों तथा सेवकों) का भरण-पोषण और अधिक मात्रा में करने में सक्षम हो सकी होगी जो कि पूर्ववर्ती युग में इतनी अधिक मात्रा में सम्भव नहीं रहा होगा। उत्पादन के अतिरेक से विभिन्न शिल्प तथा उद्योगों में उन्नति हुई। इसके साथ ही साथ मुद्रा का विकास, नगरों का विकास तथा व्यावसायिक संघों एवं श्रेणियों का विकास भी हुआ। इस युग में लोहे के प्रचुर प्रयोग से ऐसे औजारों का बनना भी संभव हुआ, जिनकी सहायता से जंगली भूमि को आसानीसे कृषि योग्य बनाने में मदद मिली। परिणामस्वरूप कृषि क्षेत्र में वृद्धि हुई तथा उत्पादन काफी बढ़ गया। उत्पादन वृद्धि एवं सिक्कों के प्रचलन से व्यापार -वाणिज्य में तेजी आयी, जिससे समाज में व्यापारी वर्ग काफी सबल हो गया। अपनी सम्पत्ति के बल पर वह भी अब सामाजिक श्रेष्ठता का दावा करने लगा। दूसरी तरफ राजनैतिक शक्ति के विस्तार से क्षत्रिय वर्ग भी अपने को ब्राह्मण वर्ण से श्रेष्ठ समझने लगा था। इसका उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में प्राप्त होता

है। इस प्रकार राजनैतिक शक्ति एवं सम्पत्ति ने मिलकर समाज में पुरानी मान्यताओं के स्थान पर नयी मान्यताओं की प्रतिष्ठा की। व्यापार, सम्पत्ति, सूदखोरी आदि अब समृद्धि के वास्तविक साधन मान लिये गये। चूँकि ब्राह्मण ग्रन्थों में इनकी निन्दा की गयी है, अतः इन्हें समर्थन प्रदान करने के लिये नवीन मतों की आवश्यकता प्रतीत हुई। इन बदलती हुई नवीन आर्थिक परिस्थितियों ने बौद्धधर्म की नयी विचारधारा के उद्भव एवं विकास में सहायता प्रदान किया।

इस प्रकार स्पष्ट कि बौद्ध धर्म की लोकप्रियता का एक प्रमुख पहलू आर्थिक भी था। आर्थिक दृष्टि से कुछ क्षेत्रों में ब्राह्मण धर्म अब अनुपयोगी हो रहा था। उदाहरणार्थ—पशुबलि का ब्राह्मण धर्म में विशेष महत्व था और पशु कृषि प्रधान आर्थिक व्यवस्था तथा सम्पत्ति की एक आवश्यक निधि थे। व्यापार के प्रति भी ब्राह्मण धर्म का दृष्टिकोण कुछ विशेष अच्छा नहीं था। यद्यपि आपत्ति काल में ब्राह्मणों को व्यापार करने की अनुमति प्रदान की गयी थी परन्तु उन्हें कुछ विशेष वस्तुयें बेचने का निषेध था। जैसे— अन्न, पेय पदार्थ, सुगन्धित द्रव्य आदि। इसी तरह समुद्र मात्रा एवं सूदखोरों के प्रति ब्राह्मण धर्म का दृष्टिकोण अच्छा नहीं था। धर्मसूत्रों में सूदखोरी को घृणित माना गया है। इसके विपरीत बौद्ध धर्म में इसे घृणा की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। ऐसे सेटिठियों से गौतम बुद्ध के अच्छे सम्बन्ध थे, जो सूदखोर थे। चूँकि तत्कालीन समय में ब्राह्मण धर्म की मान्यताओं का सबसे अधिक बुरा प्रभाव वैश्यों पर पड़ रहा था, जिनके लिये नगरों में निवास करना, व्यवसाय और सूद पर पैसा लेना—देना आवश्यक था। अतः नवोदित वैश्य वर्ग अपने हितों की सुरक्षा के लिये वैदिक धर्म एवं पुरोहितों का विरोधी बन बैठा। इस वर्ग ने बौद्ध धर्म के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम निष्कर्षतः कह सकते हैं कि छठी शताब्दी ईसा पूर्व में बौद्ध धर्म के उदय में सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक कारण विद्यमान थे। तत्कालीन समाज में याज्ञिक कर्मकाण्डों की जटिलता एवं विकृतता के विरुद्ध असन्तोष की भावना घर कर रही थी। जनसामान्य उस समय की जातिगत रूढ़िवादिता एवं याज्ञिक कर्मकाण्डों से पूर्णतया ऊब चुका था और वह किसी ऐसे धर्म की खोज में था, जो उसे आत्मा—परमात्मा, यज्ञ—कर्म एवं प्रचलित

कठोर रीतिरिवाजों से मुक्ति दिला सके। ऐसी परिस्थिति में छठी शताब्दी ईसा पूर्व में उत्तर भारत में महात्मा बुद्ध का आविर्भाव हुआ। इन्होंने पूर्व प्रचलित धर्मों की अच्छाइयों को ग्रहण करके तथा उनमें व्याप्त रूढ़ियों एवं बुराइयों को दूर कर एक नवीन विचारधारा को जन्म दिया जो कि 'बौद्ध धर्म' के नाम से अभिहित है।

महात्मा बुद्ध का जीवन—वृत्त

“युग की महान विभूतियाँ काल प्रसूत होती हैं”— यह उक्ति महात्मा बुद्ध के विषय में अक्षरशः चरितार्थ होती है। वस्तुतः उनका जन्म ऐसे परिवेश में हुआ था, जब जन साधारण परिवर्तन चाहता था। ऐसे समय पर महात्मा बुद्ध ने एक नवीन धर्म का प्रवर्तन किया, जो कालान्तर में एक अन्तर्राष्ट्रीय धर्म बन गया। उनके प्रभाव का मूल्यांकन करते हुए इतिहासकार ए०एल० बा० एम ने कहा है कि 'यदि विश्व के ऊपर उनके मरणोत्तर प्रभावों के आधार पर भी उनका मूल्यांकन किया जाय तो वे भारत में जन्म लेने वाले महानतम व्यक्ति थे। इस प्रकार ईसा पूर्व छठी शताब्दी के नास्तिक सम्प्रदाय के आचार्यों में महात्मा बुद्ध का नाम सर्वप्रमुख है।

महात्मा बुद्ध का जन्म लगभग 563 ईसा पूर्व में शाक्य गणराज्य की राजधानी कपिलवस्तु के निकट लुम्बिनी वन में हुआ था। यह स्थान वर्तमान में नेपाल देश के अन्तर्गत और भारत की सीमा से लगभग 5 मील की दूरी पर स्थित है। लुम्बिनी में बुद्ध के जन्म स्थान होने की पुष्टि मौर्य सम्राट अशोक के 'रुम्भिनदेई अभिलेख' से होती है जिस पर 'हिद बुधे जाते शाक्य मुनीति' अर्थात् 'यहाँ शाक्य मुनि बुद्ध उत्पन्न हुए' अंकित है। इस अभिलेख से यह पता चलता है कि अशोक अपने राज्याभिषेक के 20वें वर्ष यहाँ की यात्रा की तथा महात्मा बुद्ध के प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करते हुए यहाँ का धार्मिक कर 'बलि' को माफ कर दिया और भूमि कर को घटाकर 1/8 भाग कर दिया। इस प्रकार स्पष्ट है कि आधुनिक रुम्भिनदेई अथवा रुम्भिन्देह नामक स्थान ही बुद्ध काल का लुम्बिनी था और यहीं महात्मा बुद्ध का जन्म हुआ था। वे क्षत्रियवर्णीय थे। उनके पिता का नाम शुद्धोधन था, जो कपिलवस्तु के शाक्य गण के प्रधान थे। उनकी माता का नाम मायादेवी था, जो कोलिय गणराज्य की कन्या थीं। उनके बचपन का नाम सिद्धार्थ था तथा गौतम उनका गोत्रीय अभिधान

था। सिद्धार्थ के जन्म के सात दिन बाद ही उनकी माता का देहावसान हो गया तथा उनका पालन-पोषण विमाता महाप्रजापति गौतमी ने किया। महाप्रजापति गौतमी का विनय में और निकायों में अनेक बार उल्लेख हुआ है। विनय में उन्हें बुद्ध की मातृष्वसा (मौसी) कहा गया है।

महात्मा बुद्ध के जन्मोपरान्त उपस्थिति ज्योतिषियों ने भिन्न-भिन्न प्रकार की भविष्यवाणियाँ की। जन्म के समय उपस्थित पंडितों ने कहा था कि अगर वे राज्य करना स्वीकार करेंगे, तो चक्रवर्ती राजा होंगे, और अगर परिव्राजक सन्यासी का जीवन स्वीकारेंगे, तो बुद्ध होंगे। 'सुत्त-निपात' में कथा है कि बालक को देखने आये असित नामक महात्मा ने उसके उज्ज्वल भविष्य के विषय में भविष्यवाणी की थी और दुःख प्रकट किया था कि वह स्वयं उस दिन को देखने और नये सिद्धान्त सुनने को जीवित न रहेगा। किन्तु गोविन्द चन्द्र पाण्डेय ने बुद्ध के जन्मकालीन 'आश्चर्याद्भुत' कथाओं को प्राचीन नहीं माना है और न असित की भविष्यवाणी को ही वे ऐतिहासिक मानते हैं।

सिद्धार्थ का पालन-पोषण राजसी ऐश्वर्य व वैभव के वातावरण में हुआ। उन्हें राजकुमारों के अनुरूप शिक्षा-दीक्षा दी गयी। उनके शिक्षक गुरु विश्वामित्र थे जिससे उन्होंने सभी शास्त्रों की शिक्षा ली। ललितविस्तर में उन सभी विधाओं का विस्तृत वर्णन है जिन्हें सिद्धार्थ ने अपने गुरु से प्राप्त की थी।

उल्लेखनीय है कि सिद्धार्थ बचपन से ही अत्यधिक चिन्तनशील स्वभाव के थे। प्रायः एकान्त स्थान में बैठकर वे जीवन-मरण, सुख-दुःख आदि सांसारिक समस्याओं के ऊपर गम्भीरतापूर्वक विचार किया करते थे। उन्हें इस प्रकार सांसारिक जीवन से विरक्त होते देख महाराज शुद्धोधन को गहरी चिन्ता हुई। इन्होंने बालक सिद्धार्थ को सांसारिक विषय भोगों में फँसाने की भरपूर कोशिश की। उनके निवास के लिये विभिन्न ऋतुओं में रहने योग्य महल, उपवन इत्यादि बनवाये गये। उन्हें सदैव रास-रंग में बाँधे रखने का प्रयास किया गया। इसी उद्देश्य से 16 वर्ष की अल्पायु में ही उनका विवाह कोलिय शासक दण्डपाणि की कन्या यशोधरा से कर दिया गया। सिद्धार्थ की पत्नी का नाम उत्तरकालीन बौद्ध ग्रन्थों में

भिन्न—भिन्न प्राप्त होता है। यथा—बिम्बा, गोपा, भद्रकच्छना आदि किन्तु कालान्तर में उनका यशोधरा नाम ही सर्वप्रचलित हुआ। यशोधरा से सिद्धार्थ को एक पुत्र—रत्न की प्राप्ति हुई जिसका नाम राहुल पड़ा। पुत्र के जन्म के समय महात्मा बुद्ध ने कहा था कि मेरे बन्धन की एक श्रृंखला और बढ़ गयी। उनके लिये तीनों ऋतुओं में आराम हेतु भिन्न—भिन्न आवास बनवाये गये तथा इस बात की पूरी व्यवस्था की गयी कि वे सांसारिक दुःखों के दर्शन न कर सकें। किन्तु सिद्धार्थ सांसारिक विषय भोगों में वास्तविक सन्तोष नहीं पा सके।

सिद्धार्थ गौतम को राजमहल के रंगीन वातावरण एवं गृहस्थ जीवन की कड़ियाँ सांसारिक बन्धनों में आबद्ध करने में असमर्थ रहीं। कथा है कि विहार के लिये जाते हुए उन्होंने प्रथम बार एक वृद्ध, द्वितीय बार एक व्याधिग्रस्त मनुष्य, तृतीय बार एक मृत मनुष्य तथा अन्ततः एक प्रसन्नचित्त संन्यासी को देखा। मानवता को दुःख में फँसा हुआ देखकर उनका हृदय अत्यधिक खिन्न हो उठा। बुढ़ापा, व्याधि और मृत्यु जैसी गम्भीर सांसारिक समस्याओं ने उनके जीवन का मार्ग बदल दिया और इन समस्याओं के स्थायी समाधान के लिये उन्होंने अपनी पत्नी और पुत्र को सोते हुए छोड़कर 29 वर्ष की अवस्था में गृह त्याग दिया। इस घटना को बौद्ध ग्रन्थों में महाभिनिष्क्रमण की संज्ञा दी गयी है।

परवर्ती विश्वास के अनुसार उपर्युक्त वर्णित यह परिवर्तन अचानक घटा। बुद्ध को महाराज शुद्धोधन की आज्ञा से एक कृत्रिम संसार में रखा गया था। देवदूतों के द्वारा प्रदर्शित जरा, रोग, मृत्यु और परिव्राजक संन्यासी के दर्शन से उनके मन में सहसा तीव्र उद्वेग उत्पन्न हुआ और उन्होंने संसार त्याग कर काषाय धारण किया। यद्यपि आध्यात्मिक संवेग का इस प्रकार का अचानक जागरण अन्यत्र अविदित नहीं है, किन्तु जिस प्रकार की कथा बुद्ध के सम्बन्ध में कही गयी है वह विश्वसनीय प्रतीत नहीं होती है। यह स्वीकार करना कठिन है कि उन्तीस वर्ष की अवस्था तक वे जरा अथवा रोग से सर्वथा अपरिचित थे। और फिर सूत्र अथवा विनय में महाभिनिष्क्रमण के प्रसंग में इस कथा का अनुल्लेख उसकी प्रामाणिकता में सन्देह पैदा करता है। प्राचीन सन्दर्भ देखने से प्रतीत होता है कि जरा, मृत्यु, रोग आदि पर चिन्तन से बोधि—सत्त्व ने संसार की दुःख मयता हृदयंगम की और अनुत्तरशांति

का पद खोजने का निश्चय किया। उनके संसार त्याग के लिये प्रेरक विचारों को इस प्रचलित कथा में एक नाटकीय घटना का रूप दिया हुआ प्रतीत होता है। वस्तुतः उत्तरकाल में जब गण-राज्य और शाक्यों के साधारण ग्रामीण जीवन की ऐतिहासिक स्मृति खो गयी थी, यह माना गया कि बुद्ध एक प्रतापी राजा के पुत्र थे और असाधारण समृद्धि और विलासिता में पले थे। बुद्ध की कोई भी बात साधारण नहीं हो सकती। महाराज शुद्धोदन को अपने पुत्र की भावी प्रव्रज्या के विषय में पहले ही चेतावनी मिल चुकी थी। अतः उन्होंने बोधिसत्त्व को यथार्थ से इतना दूर रखा कि केवल देवदूत ही उन्हें यथार्थ तक लौटा सकते थे।

अनेक पूर्वजन्मों के अर्जित पुण्य से अभिसंस्कृत सिद्धार्थ गौतम के चित्त में जरा-मृत्यु-रोग आदि पर चिन्ता से जीवन की अनित्यता और निस्सारता प्रकट हो गयी तथा तीव्र वैराग्य और जिज्ञासा से प्रेरित होकर उन्होंने 'आर्यपर्येषणा' में कदम रखा। परवर्ती निदानकथा के अनुसार महाभिनिष्क्रमण के समय आषाढी पूर्णिमा की रात थी और उत्तराषाढा नक्षत्र आकाश में विद्यमान था। प्रातः काल तक कन्थक पर आरूढ़ बोधिसत्त्व शाक्य, कोलिय तथा मल्लों के जनपदों को पार कर अनोमा नदी के तीर पर पहुँच गये। बुद्धचरित के अनुसार बोधिसत्त्व ने पहले ब्राह्मण ऋषियों के आश्रमों में स्वर्गपरायण वानप्रस्थों को देखा और उनके धर्म से असन्तोष अनुभव किया। भिन्न भिन्न स्थानों में घूमते हुए, प्रसिद्ध आचार्यों से ज्ञान प्राप्त करते हुए, विविध साधन और तपश्चर्या में संलग्न, अन्ततः गया में ध्यान के अभ्यास से बोधिसत्त्व ने सम्बोधि का लाभ किया। इस पर्येषणा में उनके छः वर्ष व्यतीत हुए। इस दौरान जिन आचार्यों से उन्होंने आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त की उनमें आलार-कालाम और उद्रक रामपुत्त प्रमुख थे। ललितविस्तर में ब्राह्मणी पद्मा और ब्रह्मर्षि रैवत के आश्रमों में भी बोधिसत्त्व के ठहरने का उल्लेख है। अश्वघोष ने बुद्धचरित में आलार कालाम को विन्ध्य कोष्ठ का निवासी कहा है और उनके सिद्धान्तों का विवरण प्रस्तुत किया है, जबकि ललितविस्तर में आलार कालाम का स्थान वैशाली में बताया गया है। आलार कालाम के विषय में निकायों में यह जानकारी प्राप्त होती है कि उन्होंने बोधिसत्त्व को 'आकिंचन्यापतन' नाम की 'अरूप समापत्ति' की शिक्षा दी। अश्वघोष के अनुसार आलार कालाम ने जिस सिद्धान्त का

उपदेश दिया उससे कपिल, जैगीषव्य, जनक और वृद्ध पराशर ने मोक्ष लाभ किया था। आलार कालाम के उपदेश का सांख्य दर्शन से सादृ य स्पष्ट है। दोनो में प्रकृति और विकृति, अव्यक्त और व्यक्त को परिणामी कहा गया है तथा क्षेत्रज्ञ को इनसे पृथक बताया गया है। और दोनों में अविद्या को छिन्न कर क्षेत्रज्ञ मोक्ष लाभ करता है। किन्तु बोधिसत्व ने इस मत को यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि जब तक क्षेत्रज्ञ के रूप में आत्मा शेष है तब तक पुनः संसार की प्रवृत्ति संभव है। राजगृह में बोधिसत्व का मगधराज विम्बिसार से साक्षात्कार हुआ, इसका उल्लेख सुत्तनिपात के पब्बज्ज-सुत्त और ललितविस्तर में प्राप्त होता है। ललितविस्तर में वहीं उद्रक रामपुत्त का आश्रम भी बताया गया है। उद्रक रामपुत्त ने बोधिसत्व को 'नैवसंज्ञानासंज्ञायन' का उपदेश दिया किन्तु इससे भी उन्हें संतोष नहीं हुआ। इन तार्किकों की अन्तहीन तर्कधारा में उन्हें सांसारिक दुःखों से निवृत्ति नहीं मिली। अन्त में तप द्वारा बोध-प्राप्ति का निश्चय करके बोधिसत्व उरूवेला (बोधगया) नामक स्थान को प्रस्थान किये। यहाँ से पाँच भद्रवर्गीय भिक्षु भी उनके साथ हो लिये।

उरूवेला सुखद स्थल और सुन्दर वन था, जो इन्द्रियों के लिये शान्तिदायक और मन के लिये पुष्टिकर था। इस सुन्दर स्थल में बोधिसत्व ने अपने आपको उग्र तपस्या में रत कर दिया। यहाँ पर बोधिसत्व को यह सूझा कि जैसे गीली लकड़ी में घर्षण से अग्नि नहीं पैदा की जा सकती, वैसे ही भोगों में आकर्षण और तृष्णा रहते हुए तपश्चर्या के द्वारा आर्य ज्ञान की प्राप्ति नहीं की जा सकती किन्तु असंग और वैराग्य रहने पर तप से ज्ञान की आशा की जा सकती है। इस दृष्टि से बोधिसत्व ने उरूवेला के निकट सेनापति ग्राम में नैरंजना नदी के किनारे रमणीय प्रदेश में तपश्चर्या का निश्चय किया। यहाँ पर उन्होंने दाँतो से दाँत भींचकर और तालु से जिह्वा सटा कर इतना घोर तप किया कि अत्यन्त जाड़े में भी उनको पसीना छूटता था। किन्तु इससे यद्यपि उत्साह और जागरूकता बढ़ती थी तथापि देह अशान्त हो जाती थी—

“विरियं होति असल्लीनं, उपट्ठिता सति असम्मुट्ठा,

सारद्धो च पन में कायो होति अप्पटिपस्सद्धो”।

इसके पश्चात् उन्होंने आश्वास-प्रश्वास रोक कर अप्राणक ध्यान का अभ्यास किया—“सो खो अहं, मुखतो च नासतो च अस्सासपस्सासे उपरून्धिं।” किन्तु इस प्राणायाम के अभ्यास से बोधिसत्व को तीव्र वेदना और जलन का अनुभव हुआ। प्रखर तप से निश्चेष्ट पड़े हुए उनको देखकर लोगों ने समझा कि श्रमण गौतम की मृत्यु हो गयी है। इसके अनन्तर उन्होंने आहार छोड़ने का अभ्यास किया। इसके फलस्वरूप उनका शरीर अत्यन्त कृश तथा क्षीण हो गया तथा उनकी स्वाभाविक अवदात छवि काली पड़ गयी। ऐसी स्थिति में उन्हें दुष्कर तपश्चर्या की व्यर्थता स्पष्ट दिखने लगी। अब उन्हें यह विश्वास हो गया कि तप-उपवास द्वारा बोध संभव नहीं है, अस्तु वे अन्य मार्ग खोजने में सचेष्ट हुए।

तपस्या छोड़ने के अनन्तर बोधिसत्व को बचपन में अनुभूत ध्यान का स्मरण हुआ तथा उन्होंने उसे ही सम्बोधि का मार्ग निर्धारित किया। और साथ ही उन्होंने अपना ध्यान-सुख का भय छोड़ दिया क्योंकि इस सुख का आधार न तो भोग लालसा थी और न अपुण्य। चूँकि भूख, प्यास और थकान में मन स्वस्थ एवं एकाग्र नहीं रहता और न “ध्यान योग” में ही प्रवृत्त होता है। अतः बोधिसत्व ने अनाहार का त्याग किया। इस प्रकार बोधिसत्व के छः वर्षीय कठोर तप का अन्त हुआ, जिस पर खिन्न होकर उनके साथ के पाँच भद्रवर्गीय भिक्षुओं ने उन्हें पथ से विचलित मानकर उनका साथ छोड़ दिया। परवर्ती बौद्ध परम्परा के अनुसार ध्यान-संलग्न बोधिसत्व को ‘मार’ और उसकी सेना का सामना करना पड़ा। यद्यपि प्राचीन पालि सन्दर्भों में मार का उल्लेख अवश्य मिलता है, किन्तु सम्बोधि प्राप्ति के क्रमबद्ध विवरण में मार-घर्षण का स्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। इसलिये कुछ विद्वानों का मानना है कि मार-विजय की यह कथा उत्तरकालीन कल्पना है। अन्य विद्वानों ने इस अश्रद्धा का विरोध किया है। इस सन्दर्भ में रिज डेविड्स ने यह सुझाव प्रस्तुत किया है कि मार की कथा में एक आध्यात्मिक व्यापार का वाह्य इतिवृत्ति के रूप में चित्रण है। उल्लेखनीय है कि पालि साहित्य में मार को कहीं मृत्यु, तो कहीं काम अथवा सांसारिक प्रलोभन के रूप में समझा गया है। निवृत्ति मार्ग की दृष्टि से काम और मृत्यु का निबिड़ सम्बन्ध सुबोध है। यह स्मरणीय है कि कठोपनिषद में यम अथवा मृत्यु नचिकेता के रूप में जिज्ञासु को नाना प्रलोभन देकर ज्ञान से

वंचित करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार यह स्वाभाविक है कि ज्ञान की प्राप्ति के लिये सांसारिक आकर्षणों के साथ जो आध्यात्मिक अन्तर्द्वन्द्व अनिवार्य है, उसको ही मार-घर्षण की कथा में एक कल्पित नाटकीय रूप से प्रस्तुत किया गया है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि एक प्रकार से आलार कालाम और उद्रक रामपुत्र ने भी बोधिसत्त्व को ध्यान की शिक्षा दी थी। चूँकि अरूप-समापत्तियों की प्राप्ति के लिये रूप धातु का अतिक्रमण आवश्यक है और काम धातु से रूप धातु में प्रवेश, ध्यान के द्वारा ही संभव है। इस प्रकार ध्यान के क्रमशः सूक्ष्म होने से, वितर्क, विचार, प्रीति और सुख के निरोध के द्वारा चतुर्थ ध्यान की प्राप्ति और फिर रूप संज्ञा के अतिक्रमण से आकाशानन्त्यायतनादि अरूप समापत्तियों का लाभ होता है। किन्तु बुद्ध ने चतुर्थ ध्यान के अनन्तर सम्बोधि का लाभ किया। किसी विषय पर चित्त के बार-बार लगाने को बौद्धों ने 'वितर्क' की संज्ञा दी है और उस विषय पर चित्त के निरन्तर प्रवाह को 'विचार' की। ऐसे एकाग्रभूमिक चित्त के समाहित होने के प्रसंग में पहले मौन (वाक्संस्कारनिरोध) के साथ-साथ चित्त की जड़ता और चंचलता के तात्कालिक उपशम के कारण सात्विक सुख और सुख का आसंग, जिसे बौद्धों ने 'प्रीति' कहा है, उत्पन्न होते हैं। यह ध्यान की प्रथम अवस्था है। क्रमशः वितर्क, प्रीति और सुख के निरोध से ध्यान की द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अवस्थायें प्राप्त होती हैं। साथ ही साथ समाधिस्थ होने से चित्त की स्वाभाविक शक्ति का उन्मेश होता है और ध्यान के मूल लक्ष्य के अनुरूप ज्ञान और विभूति का आविर्भाव होता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध के समकालीन अनेक आचार्यगण ध्यान और समाधि का उपयोग रूप-धातु और अरूप-धातु के नाना लोकों की प्राप्ति के लिये करते थे। अतएव परवर्ती बौद्ध आचार्यों ने इस प्रकार के ध्यान और समाधि को 'लौकिक' और 'सास्रव' कहा है। साधारणतया चतुर्थ ध्यान में स्थित रहने से 'बृहत्फल' नामक देवताओं के लोक की प्राप्ति होती थी तथा इस ध्यान की रूप संज्ञा का अतिक्रमण करने पर सूक्ष्मतर आकाशानत्यायतन की प्राप्ति होती थी। किन्तु अतिशय पुण्यात्मा, त्रैधातुविरक्त, अनुत्तरशान्तिदिग्द्वेषी बोधिसत्त्व चतुर्थ ध्यान में विशुद्ध

और निश्चल चित्त के अभिनिर्हार के द्वारा रात्रि के तीन यामों में तीन विधाएं प्राप्त कर उषःकाल में सर्वज्ञ सम्बुद्ध हो गये।

इस प्रकार छः वर्षों की साधना के पश्चात् 35 वर्ष की आयु में वैशाख पूर्णिमा की रात को एक पीपल वृक्ष के नीचे सिद्धार्थ को सम्बोधि (आत्म ज्ञान) प्राप्त हुआ। अब उन्होंने दुःख तथा उसके कारणों का पता लगा लिया। इस समय से वे 'बुद्ध' नाम से विख्यात हुए। प्रसिद्ध विद्वान डॉ. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय के अनुसार ज्ञान प्राप्ति की रात्रि को प्रथम याम में उन्होंने पूर्वजन्मों की स्मृतिरूपी पहली विधा प्राप्त की। रात्रि के मध्यम याम में उन्होंने दिव्य चक्षु प्राप्त किया और उसके द्वारा समस्त लोक को अपने कर्मों का फल अनुभव करते देखा। रात्रि के तृतीय याम में उन्होंने प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान प्राप्त किया जिससे उन्होंने सत्य को आपाततः दो पक्षों में विभक्त देखा। एक ओर अनित्य, परतन्त्र और सापेक्ष संसार, एवं दूसरी ओर चिर-शान्त निर्वाण। एक मत से यह त्रैविद्यता ही बुद्ध की सर्वज्ञता थी। मतान्तर से प्रतीत्यसमुत्पाद के सामान्तर सर्वधर्माभिसमय रूप सर्वाकारक प्रज्ञा अथवा सम्बोधि का उदय हुआ। दीर्घ साधना के सफल होने के पश्चात् सिद्धार्थ गौतम 'तथागत' तथा 'बुद्ध' कहलाये। उनके बोधि प्राप्ति से सम्बन्धित होने के कारण गया 'बोधगया' तथा वह 'वृक्ष' जिसके नीचे उन्होंने बुद्धत्व प्राप्त किया उसे 'बोधिवृक्ष' कहा गया। इस प्रकार बुद्धत्व प्राप्त करके महात्मा बुद्ध जगत के परित्राता बन गये।

सम्बोधि के बाद बुद्ध के प्रथम वचन के विषय में बौद्ध परम्परा में मतैक्याभाव है। महावग्ग में इस गाथा को बुद्ध का प्रथम उदान बताया गया है —“यदा हवे पातु—भवन्ति धम्मा आतापिनो ज्ञायतो ब्राह्मणस्य। अथस्य कडखा वपयन्ति सब्बा यतो पजानाति सहेतुधम्मं।” किन्तु दीघमाणक और बुद्धघोष के अनुसार बुद्ध के प्रथम वचन धम्मपदकी इन गाथाओ में सुरक्षित है —“अनेकजाति संसारं संधाविस्सं अनिब्बिसं, गहकारकं गवेसन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुनं। गहकारक दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि, सब्बाते फासुका भग्गा गहकूटं विसडिखतं, विसंडखारगतं चितं तण्हाणं खयमज्झगा।” वहीं ललित विस्तर में पहला उदान इस प्रकार वर्णित है —“छिन्नवर्त्मोपशान्तरजाः शुष्का आस्रवा न पुनः श्रवन्ति। छिन्ने वर्त्मनि वर्तत दुःखस्यैषोडन्त उच्यते।” जबकि तिब्बती विनय में एक अन्य उदान प्राप्त होता है।

इससे स्पष्ट होता है कि सम्बुद्ध की प्रथमोक्ति का उत्तरकाल में यथावत स्मरण शेष नहीं रहा है।

विनयपिटक के अनुसार सम्बोधि प्राप्ति के बाद चार सप्ताह तक बुद्ध विमुक्ति सुख प्रतिसंवेदी होकर बद्धासन बने रहे। हालांकि कुछ परवर्ती ग्रन्थों में यह समय सात सप्ताह जबकि कुछ में एक सप्ताह प्राप्त होता है। महावग्ग में इस विमुक्ति सुख प्रतिसंवेदन के अनन्तर तपस्स और भल्लिक नामक दो व्यापारियों के सर्वप्रथम उपासक बनने का उल्लेख प्राप्त होता है। इसके बाद ब्रह्मयाचन का वर्णन है।⁹⁴ धर्मचक्रप्रवर्तन सूत्र में वर्णित है कि सम्बोधि प्राप्ति के बाद बुद्ध के मन में यह विचार आया कि बहुत कष्ट से मैंने इस धर्म को पाया है, यही यथेष्ट है। मैं इसका उपदेश क्यों न करूँ। किन्तु उनके मन में संशय उत्पन्न हुआ कि राग एवं द्वेष में लिप्त लोगो को यह धर्म सरलता से समझ में नहीं आयेगा, उल्टी धार वाली इस पूर्ण गम्भीर, दुर्जेय और सूक्ष्म बात को राग में रत और अविद्या के घने अंधकार में पड़े हुए लोग नहीं समझ सकते। शास्त्रों में कथा है कि जिस समय बुद्ध यह स्थिर नहीं कर पा रहे थे कि अपने उपदेशों के प्रचार में प्रयत्नशील होंऊ या नही, तब बुद्ध के अनौत्सुक्य को देखकर ब्रह्मा उनके सम्मुख प्रकट हुए और उन्होंने कहा – धर्ममय प्रसाद से शोकावतीर्ण जनता को देखिए और धर्म का उपदेश कीजिए, जानने समझने वाले भी होंगे।

तत्पश्चात् महात्मा बुद्ध समाधि की अवस्था को त्याग कर धर्मचक्रप्रवर्तन की ओर प्रेरित हुए। उन्होंने प्रथम देशना के लिये उत्तम पात्र अलारकलाम और उद्रक रामपुत्त को माना, किन्तु उन लोगों का देहावसान महात्मा बुद्ध के ज्ञानोदय के पूर्व ही हो चुका था। इसके बाद उपादेश्यता की द्वितीय कोटि में उन्होंने उन पंचवर्गीय भिक्षुओं को चुना जिन्होंने उन्हें पथभ्रष्ट कहकर त्याग दिया था। इन भिक्षुओं से मिलने महात्मा बुद्ध स्वयं काशी गये और वहाँ ऋषिपत्तन में अपने धर्म का प्रथम उपदेश दिया। बौद्ध साहित्य में इस घटना को धर्मचक्रप्रवर्तन की संज्ञा दी गयी है। अतिशय विलास का जीवन तथा अतिशय तप द्वारा आत्मपीड़न का जीवन, ये दोनों पराकाष्ठायें एक समान निरूपयोगी होती हैं। इन दोनों को त्याग कर बुद्ध ने उस

मध्यम मार्ग को अपनाया जो अर्न्तदृष्टि को खोलता है, ज्ञान का दाता है और जो शान्ति, अभिज्ञान संबोधि एवं निर्वाण का पद है।

महात्मा बुद्ध के उपदेश से पंचवर्गीय भिक्षुओं ने अर्हत् को प्राप्त किया। इस प्रकार संसार में छः अर्हत् हो गये। महावग्ग में वाराणसी के यश श्रेष्ठि पुत्र की प्रवज्जा वर्णित है। यश के सम्बन्धियों एवं मित्रों ने भी इस नये धर्म को स्वीकार किया। इस प्रकार वाराणसी में अनेक बौद्ध उपासक—उपसिकायें एवं भिक्षु—भिक्षुणियाँ बन गयीं।

महात्मा बुद्ध के अतिरिक्त उस समय साठ अन्य अर्हत् हुए जिन्हें विभिन्न दिशाओं में धर्म प्रचार के लिये भेजा गया और उन्हें निर्देश दिया गया कि 'भिक्षुओं, बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय, लोक पर अनुकम्पा करने के लिये, हित के लिये, सुख के लिये विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ। हे भिक्षुओ ! आदि में कल्याण कर, मध्य में कल्याण कर, इस धर्म का उपदेश करो।

ऋषिपत्तन में वर्षा ऋतु व्यतीत करने के पश्चात् महात्मा बुद्ध ने उरुवेला की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में उन्होंने तीस भद्रवर्गीय कुमारों को दीक्षा देकर अपना अनुयायी बनाया। यद्यपि उरुवेला ब्राह्मण धर्म और कर्मकाण्ड का प्रधान केन्द्र था। फिर भी वहाँ तीन जटिल कश्यपों को और उनके एक सहस्र अनुयायियों को तर्क तथा उपदेश द्वारा बौद्ध धर्म में दीक्षित किया।

तदुपरान्त महात्मा बुद्ध ने राजगृह की ओर प्रस्थान किया और वहाँ महाराज बिम्बिसार को अपने धर्म का उपदेश दिया। महात्मा बुद्ध से प्रभावित होकर बिम्बिसार ने बौद्ध भिक्षु संघ को वेणुवन उद्यान उपहारस्वरूप प्रदान किया। राजगृह में संजय नामक परिव्राजक आचार्य के दो शिष्य सारिपुत्र एवं मौद्गललायन ने अश्वजीत बौद्ध भिक्षु से 'ये धम्मा हेतुप्पयवा' सुनकर बुद्ध का शिष्यत्व स्वीकार किया। कुछ समयोपरान्त संजय ने भी बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया।

भ्रमण करते हुए महात्मा बुद्ध अपनी जन्मस्थली कपिलवस्तु पहुँचे। वहाँ उन्होंने अपने पिता और राजपरिवार की स्त्रियों को उपदेश दिया। अपने पुत्र राहुल एवं भाई नन्द को भिक्षु बनाया। वहीं पर महात्मा बुद्ध ने नियम बनाया कि

माता—पिता के अनुमति के बिना कोई व्यक्ति भिक्षु नहीं बन सकता। उसी समय महात्मा बुद्ध की विमाता प्रजापति गौतमी ने प्रवज्या ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की और संघ में स्त्रियों के प्रवेश की बात उठी। उल्लेखनीय है कि महात्मा बुद्ध स्त्रियों को संघ में प्रवेश करना नहीं चाहते किन्तु अपने परम शिष्य आनन्द के अनुरोध पर उन्होंने स्त्रियों को संघ में प्रवेश की अनुमति दे दी। कपिलवस्तु से लौटते समय महात्मा बुद्ध ने अनुपिय नामक स्थान पर शाक्य गणों को उपदेश दिया। इनमें भद्रिक, अनिरुद्ध, उपालि एवं देवदत्त आदि प्रमुख थे। उपदेश सुनने के बाद ये लोग बौद्ध भिक्षु बन गये तथा बौद्ध धर्म के प्रचार में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

कोसल में महाराज प्रसेनजित बुद्ध के अनुयायी थे। और उनसे अधिक उनकी रानी मल्लिका बुद्ध में श्रद्धा रखती थी। फलतः राजकुल में अन्य लोग बौद्ध धर्म के अनुयायी बने। श्रेष्ठियों में कोटिपति अनाथपिण्डक और विशाखा का उपासक एवं उपासिका बनना बौद्ध धर्म के लिये बड़ी बात थी। अनाथपिण्डक ने श्रावस्ती में भिक्षु संघ को जेतवन विहार तथा विशाखा ने पुब्बाराम मिगारमातु प्रासाद दान किया। इसके अतिरिक्त कोशल के अनेक प्रभावशाली और समृद्ध ब्राह्मणों ने भी बौद्ध धर्म को स्वीकार किया। इनमें अग्नि भरद्वाज, पुष्कर सादी एवं घानंजनि आदि मुख्य थे। यद्यपि श्रावस्ती आजीवकों का केन्द्र था, किन्तु वहाँ के परिव्राजकों में से भी कुछ ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया। इस प्रकार बौद्ध धर्म तेजी समाज में अपना स्थान बनाने में सफल रहा।

उल्लेखनीय है कि महात्मा बुद्ध के वैशाली गणराज्य में अत्यधिक प्रशंसक थे और यह बहुत सम्भव है कि उनके भिक्षु संघ का संगठन इस गणराज्य के आदर्श पर प्रतिष्ठित हुआ हो। निग्रन्थ उपासक लिच्छिवी सेनापति सिंह को महात्मा बुद्ध ने अपना अनुयायी बनाया। शिशुमारगिरि भग्नों से अभय राजकुमार और नकुल के माता—पिता ने सद्धर्म को ग्रहण किया। कोलियों में से सुप्रवासा प्रसिद्ध उपासिका थी। मल्लों में दर्प और चुन्द बौद्धानुयायियों में सुप्रसिद्ध हैं। महात्मा बुद्ध सम्बोधि प्राप्त करने के पश्चात् अस्सी वर्ष की आयु तक सद्धर्म का प्रचार करते रहे। उनका सर्वाधिक वर्षावास श्रावस्ती में ही व्यतीत हुआ, इसके बाद राजगृह, वैशाली एवं कपिलवस्तु में था। महात्मा बुद्ध ने सद्धर्म में सभी वर्ग के मनुष्यों को सम्मिलित

किया। बिम्बिसार और प्रसेनजित जैसे सम्राट, अनाथपिण्डक जैसे सेठ, जीवक जैसे प्रख्यात चिकित्सक, सुनिधि और वर्णकार जैसे राजकार्यकर्ता, आम्रपाली जैसी गणिका, अंगुलिमाल जैसा क्रूर डाकू, चुन्द जैसे कारीगर और कौण्डिन्य जैसे ब्राह्मण तपस्वी आदि इनमें प्रमुख थे। दीघनिकाय में कहा गया है कि जिस प्रकार कोई औंधे को सीधा कर दे, ढंके को खोल दे, भूले को मार्ग दिखा दे या अंधकार में दीपक रख दे, जिससे आँख वाले रूप को देखें वैसे ही भगवान बुद्ध ने अनेक प्रकार से धर्म को प्रकाशित किया।

महात्मा बुद्ध 45 वर्षों तक अपने धर्म का प्रचार करते हुए उत्तर भारत में विभिन्न जगहों पर भ्रमण करते रहे। मगध, कोशल, वज्जि, वत्स, पांचाल, चेदि, अंग, अंगुत्तराय, सुम्भ, कुरु, सूरसेन, विदेह, काशी, शाक्य, कोलिय, मल्ल, कालाम, भर्ग आदि जनपदों में महात्मा बुद्ध के विचरण एवं धर्मोपदेश करने का वर्णन त्रिपिटकों में प्राप्त होता है। डॉ० भरत सिंह उपाध्याय ने उक्त जनपदों के उन नगरों की एक विस्तृत सूची तैयार की है, जिनमें कि तथागत ने निवास किया था तथा धर्मोपदेश दिया था।

अन्त में उन्यासी वर्ष की अवस्था में वे राजगृह पहुँचे।¹¹⁴ राजगृह से वे पाटलिग्राम होते हुए गंगा नदी पार कर वैशाली पहुँचे, जहाँ आम्रपाली नामक गणिका ने उन्हें भिक्षुओं सहित भोजन कराकर अपने आम्रवन को बौद्ध भिक्षु संघ को दान में दे दिया।¹¹⁵ वहाँ से महात्मा बुद्ध मण्डग्राम, हस्तिनापुरग्राम, आगृग्राम, जम्बुग्राम होते हुए पावा पहुँचे, जहाँ उन्होंने चुन्द का आतिथ्य स्वीकार किया। चुन्द के यहाँ 'सूकरमद्दव' खाने से उन्हें यंत्रणामय अतिसार उत्पन्न हो गया। ऐसी अवस्था में उन्होंने कुशीनारा को प्रस्थान किया। महात्मा बुद्ध वैशाख पूर्णिमा के दिन कुशीनारा पहुँचे और मल्लों के शालवन उपवन में शाल वृक्ष के नीचे अन्तिम शैय्या पर लेटे हुए सुभद्र नामक परिव्राजक को उपदेश दिया। अन्त में भिक्षुओं को समीप बुलाकर उन्हें धर्मोपदेश दिया – 'आनन्द! शायद तुम ऐसा सोचो कि हमारे शास्ता चले गये, अब हमारा शास्ता नहीं। आनन्द, इसे ऐसा मत समझना। मैंने जो धर्म विनय किये हैं, मेरे बाद वही तुम्हारे शास्ता होंगे।'¹¹⁶

महापरिनिर्वाण सुत्त में महात्मा बुद्ध के परिनिर्वाण की कथा वर्णित है।¹¹⁷ कारुणिक महात्मा बुद्ध ने महापरिनिर्वाण के पूर्व भिक्षुओं को अन्तिम उपदेश देते हुए कहा —‘छन्द, दानि भिक्खवे, आमन्तयामि कवो वयधम्मा संखारा अप्पमादेन समपादेय अर्थात् भिक्षुओं अब तुम्हें कहता हूँ —संसार नाशवान है। अप्रमाद के साथ जीवन के लक्ष्य को पूर्ण करो। यह उपदेश देकर महात्मा बुद्ध 80 वर्ष की अवस्था में 483 ई0पू0 में वैशाख पूर्णिमा की रात्रि के अन्तिम प्रहर में गहन समाधि में लीन हो गये और महापरिनिर्वाण को प्राप्त किया।¹¹⁸ इस प्रकार उनके जीवन का अन्त हो गया। वे मनुष्य जाति का एक सदस्य होते हुए भी सबसे महान थे और इस पृथ्वी पर प्राणियों में बुद्धत्व प्राप्त करने वाले सर्वप्रथम व्यक्ति थे।

महात्मा बुद्ध के प्रबल रोमांचकारी जीवन तथा उनके प्रभाव ाली व्यक्तित्व ने उनके धर्म को एक विशेष ओज प्रदान किया। उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व बड़ा प्रभावोत्पादक था। दुष्ट से दुष्ट व्यक्ति भी उनके समक्ष विनत हो जाता था। विषम परिस्थिति में भी वे उद्विग्न नहीं होते थे। बौद्ध धर्म और बौद्ध संघ के सम्पूर्ण संगठन में हमें महात्मा बुद्ध के व्यक्तित्व की आदर्शवादिता, नैतिकता एवं जनतंत्रवादिता की छाया दिखायी देती है। सर्वहारा एवं शोषित वर्ग के उद्धारक के रूप में उन्होंने जिस विशाल सहृदयता का परिचय दिया, वह आज हमारे समाज सुधारकों के लिये आदर्श बन चुका है।

महात्मा बुद्ध के उपदेश एवं शिक्षाएँ

महात्मा बुद्ध भोग-विलास और महलों के सुख के बीच रहकर भी जीवन के कुछ कठोर सत्यों यथा-जन्म, जरा, रोग, मृत्यु, दुःख और अपवित्रता आदि से अत्यन्त प्रभावित थे। अतः उनकी ऐसी धारणा बन गयी थी कि जब तक मनुष्य इसे दूर करने का प्रयत्न नहीं करेगा, तब तक उसे इस सबसे छुटकारा प्राप्त नहीं हो सकता। उन्होंने बौद्ध धर्म की स्थापना करके समाज में व्याप्त दुर्गुणों, रूढ़ियों एवं कुरीतियों को दूर करने का प्रयास किया। उन्होंने दुःख-ग्रस्त जनमानस को अपने उपदेशों द्वारा दुःख-मुक्त करने की कोशिश की। महात्मा बुद्ध के जनकल्याणकारी

उपदेशों से न केवल भारत ही अपितु विश्व के अनेक देश प्रभावित हुए तथा इस धर्म की ओर आकृष्ट हुए।

महात्मा बुद्ध के उपदेशों में 'चार आर्य सत्य' मुख्य है। उन्होंने ऋषिपत्तन में सर्वप्रथम पाँच ब्राह्मण संन्यासियों को चार आर्य सत्यों का ही उपदेश दिया था। इन चार आर्य सत्यों का बौद्ध धर्म में महत्वपूर्ण स्थान है। वस्तुतः इन्हीं चार आर्य सत्यों में सारा बौद्ध धर्म अन्तर्भूत है। आर्यसत्य का वास्तविक अर्थ है—यथार्थ सत्य। चार आर्य सत्यों को सभी कुशल धर्मों का मूल कहा जाता है। जितने कुशल धर्म हैं वे सभी आर्य सत्य में निहित हैं। इन आर्य सत्यों का ज्ञान किसी—किसी को स्रोतापन्न अवस्था में आंशिक रूप से होता है और किसी—किसी को सकृदागामी और अनागामी अवस्था में। किन्तु अर्हत् अवस्था में पूर्णरूप से इनका ज्ञान होता है। बौद्ध धर्म के अनुसार जब मनुष्य को इन चार आर्य सत्यों का ज्ञान हो जाता है तब उसकी तृष्णा का विनाश हो जाता है। दुःख के मूल का अन्त हो जाता है तथा फिर उसे इस संसार में जन्म नहीं लेना पड़ता। बुद्ध द्वारा उपदेशित 'चार आर्य सत्य' बौद्ध धर्म के मूल आधार हैं। ये आर्य सत्य हैं—दुःख, दुःख समुदाय, दुःख निरोध तथा दुःख निरोध गामिनी प्रतिपदा। इन चार आर्य सत्यों में चतुर्थ—'दुःख निरोध गामिनी प्रतिपदा', अष्टांगिक मार्ग है। बौद्ध धर्म के अनुसार इन अष्टांगिक मार्गों का अनुपालन करके जीव संसार रूपी भव सागर से निर्वाण की ओर अग्रसर हो सकता है। जनकल्याण हेतु सांसारिक मायामोह से मुक्ति के अनन्तर बुद्ध ने सद्धर्म को मूलरूप से इन चार आर्य सत्यों द्वारा उपदेशित किया। मानव जाति के कल्याण हेतु बुद्ध द्वारा उपदेशित इन चार आर्य सत्यों का विशद वर्णन निम्नलिखित है—

(क) प्रथम आर्य सत्य — दुःख (दुक्ख अरिय सच्च)

गौतम बुद्ध ने अपने द्वारा उपदेशित धर्म के मूलाधार 'चार आर्य सत्य' — में दुःख को, जिससे कि संसार का प्रत्येक प्राणी त्रस्त था, 'प्रथम आर्य सत्य' माना है। गौतम बुद्ध का प्रथम आर्य सत्य है कि संसार दुःखमय है, संसार में दुःख ही दुःख व्याप्त है (सर्व दुःखम)। उनके अनुसार संसार के सभी पदार्थ विनाशी होने के कारण दुःखदायी है। जैसा कि सर्वविदित है कि गौतम बुद्ध ने जरा—मरण, शोक एवं रोग

के दृश्यों को देखकर ही घर छोड़ा था। बुद्धत्व— प्राप्ति के बाद संसार में व्याप्त दुःखों के विषय में उनकी अनुभूति और भी प्रबल हो गयी। उन्होंने यह घोषित किया कि मानव तथा मानवेतर जीवन, सम्पूर्ण चराचर जगत् दुःखमय है, दुःखों से परिपूर्ण है। उन्होंने दुःखों की व्यापकता का वर्णन करते हुए कहा कि, 'यह जन्म भी दुःखपूर्ण है, बुढ़ापा भी दुःखपूर्ण है, मृत्यु, शोक, रुदन, अप्रिय से संयोग एवं प्रिय से वियोग, इच्छित वस्तु की अप्राप्ति, सब कुछ दुःखपूर्ण है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान—ये पाँचों उपादन स्कन्ध दुःखपूर्ण है'। संक्षेप में कहें तो उनके अनुसार जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त सम्पूर्ण जीवन दुःखपूर्ण है। किंवा, हम संसार में जिसे सुखद समझते हैं वह भी दुःखपूर्ण है। बुद्ध के अनुसार सांसारिक सुखों को यथार्थ समझना मूर्खतापूर्ण है। सुखों को प्राप्त करने के प्रयास में दुःख होता है। सुख प्राप्त होने के बाद यह चिन्ता दुःखपूर्ण है कि कहीं यह नष्ट न हो जाय। इसके नष्ट होने पर तो दुःख मिलता ही है। मृत्यु भी दुःख का अन्त नहीं है, अपितु नये दुःखों की शुरुआत है, क्योंकि उसके बाद पुनर्जन्म होता है। इस प्रकार जन्म एवं मृत्यु का क्रम चलता रहता है और व्यक्ति इसमें पिसकर दुःख भोगता रहता है। बौद्ध दर्शन में दुःख की व्यापकता इस उद्धरण से ज्ञात होती है कि , 'जब से जगत चला आ रह है तब से जितने आँसू बहे हैं उनकी तुलना में सभी सागरों की जलराशि भी कम है'। दुःखों की इस गहन अनुभूति के आधार पर गौतम बुद्ध ने प्रथम आर्य सत्य के अन्तर्गत कहा है कि जीवन दुःखों से परिपूर्ण है।

(ख) द्वितीय आर्य सत्य — दुःख समुदाय (दुःख समुदय अरिय सच्च)

गौतम बुद्ध का द्वितीय आर्य सत्य है दुःख समुदाय। इस आर्य सत्य में महात्मा बुद्ध ने दुःख के कारण की खोज की है। उनके अनुसार दुःख उत्पन्न होता है और दुःख के उत्पन्न होने का कारण भी है, क्योंकि संसार में कोई भी घटना अकारण घटित नहीं होती है। इस आर्य सत्य के अन्तर्गत उन्होंने कारणता के उस सार्वभौम सिद्धान्त की भी खोज किया जिसके आधार पर दुःख के कारणों का पता लगाया। गौतम बुद्ध के द्वितीय आर्य सत्य को 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के नाम से जाना जाता है। यह एक प्रकार का कारणता सिद्धान्त है जिसे आश्रित—उत्पत्ति का सिद्धान्त भी कहा जाता है। इसके अनुसार किसी वस्तु के होने पर ही अन्य वस्तु

की उत्पत्ति होती है। गौतम बुद्ध ने दुःखों के कारणों की खोज की प्रक्रिया में बारह कड़ियों वाली एक लम्बी श्रृंखला की खोज की है जिसकी अन्तिम कड़ी अविद्या है और महात्मा बुद्ध के अनुसार यही समस्त दुःखों का मूल कारण है।

प्रतीत्यसमुत्पाद के अन्तर्गत 'द्वादश निदान' की अभिव्यंजना की गयी है जो एक दूसरे को उत्पन्न करने के कारण हैं। ये द्वादश निदान हैं –

1. अविद्या
2. संस्कार
3. विज्ञान
4. नामरूप
5. षडायतन
6. स्पर्श
7. वेदना
8. तृष्णा
9. उपादान
10. भव
11. जाति
12. जरामरण

इस प्रकार गौतम बुद्ध ने अपने द्वितीय आर्य सत्य के अन्तर्गत दुःख के कारणों की खोज के क्रम में कुल बारह कड़ियों की खोज की है तथा अविद्या को मूल कारण माना है। उनके अनुसार अविद्या ही समस्त दुःखों का मूल कारण है। इसका कोई कारण नहीं है।

चूँकि गौतम बुद्ध द्वारा विवेचित इस कारण-कार्य श्रृंखला में बारह कड़ियाँ हैं, अतः इसे 'द्वादश निदान-चक्र' कहते हैं। इसे प्रतीत्यसमुत्पाद चक्र, दुःख-चक्र, जरा-मरण चक्र, संसार-चक्र और भव-चक्र भी कहा जाता है। इस द्वादश निदान चक्र में व्यक्ति का भूत, वर्तमान एवं भविष्य, तीनों जीवन व्याप्त है। अविद्या एवं संस्कार का सम्बन्ध व्यक्ति के भूतकालीन जीवन से है। विज्ञान, नामरूप, षडायतन,

स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान और भव व्यक्ति के वर्तमान जीवन से सम्बन्धित हैं। जाति और जरामरण का सम्बन्ध व्यक्ति के भविष्य जीवन से है। उल्लेखनीय है कि द्वादश निदान चक्र की ये बारह कड़ियाँ एकरेखीय क्रम में न होकर एकवृत्तीय क्रम में हैं। ये वृत्तीय क्रम में घूमती रहती हैं। यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक मूलभूत कारण (अविद्या) नष्ट नहीं होता। इसलिये मृत्यु दुःखों का अन्त नहीं है, अपितु नये दुःखों की शुरुआत है। दुःखों का अन्त तो अविद्या के अन्त होने से ही सम्भव है। बुद्ध के अनुसार ज्ञान ही अविद्या का अन्त करके व्यक्ति को निर्वाण की ओर ले जाने में समर्थ है। वस्तुतः प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्ध दर्शन का आधार स्तम्भ है।¹²³ इसे जाने बिना बौद्ध धर्म को नहीं समझा जा सकता है। इसकी महत्ता को प्रकट करते हुये मझिम निकाय में कहा गया कि “जो प्रतीत्यसमुत्पाद को समझता है, वह धर्म को समझता है और जो धर्म को समझता है वह प्रतीत्यसमुत्पाद को समझता है।”

(ग) तृतीय आर्य सत्य—दुःख निरोध (दुःख निरोध अरिय सच्च)

गौतम बुद्ध का तृतीय आर्य सत्य दुःख निरोध है। इसका अर्थ है कि दुःखों का अन्त सम्भव है। यह आर्य सत्य बौद्ध दर्शन को दुःखवादी एवं निराशावादी होने से बचाता है। गौतम बुद्ध ने इस बात पर बल दिया है कि चूँकि दुःखों का मूलभूत कारण अविद्या है, अतः अविद्या को दूर करके दुःखों का भी अन्त किया जा सकता है। दुःख निरोध बौद्ध दर्शन तथा भगवान बुद्ध के उपदेशों का सर्वस्व है। यह निर्वाण है, अमृत पद है जो वस्तुतः अविद्या के विनाश के फलस्वरूप द्वादशांग प्रतीत्यसमुत्पाद चक्र के निरुद्ध होने से प्राप्त होता है। महात्मा बुद्ध के अनुसार इसी जीवन में ही दुःखों का निरोध सम्भव है।

बौद्ध दर्शन के अनुसार दुःख निरोध ही निर्वाण है। इतिवृत्तक में वर्णित है कि ‘निर्वाण’ शान्ति एवं श्रेष्ठता है, सभी संस्कारों का भामन है, चित्त मलों का परित्याग है, तृष्णा का क्षय है तथा विराग का स्वरूप है’। इस प्रकार दुःख के मूल कारण अविद्या के विनाश होने से दुःख का निरोध हो जाता है। यही दुःख निरोध महात्मा बुद्ध के सम्पूर्ण दर्शन का केन्द्र बिन्दु था। भिक्षुओं को समझाते हुये तथागत

ने कहा था कि रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान का अवरोध ही दुःख निरोध है।

(घ) चतुर्थ आर्य सत्य—दुःख निरोध गामिनी प्रतिपद्(दुःख निरोध गामिनी पटिपदाअरिय सच्च)

महात्मा बुद्ध ने चतुर्थ आर्य सत्य में दुःख निरोध का उपाय बताया है। बौद्ध साहित्य में यह आर्य सत्य 'दुःख निरोध गामिनी प्रतिपद्' के नाम से प्रसिद्ध है। यह नैतिक और आध्यात्मिक साधना का मार्ग है। इसे 'मध्यमा प्रतिपद्' या 'मध्यम मार्ग' भी कहा जाता है। यह अत्यधिक भोग विलास एवं भारीर को अत्यन्त क्षीण करने वाली तपस्या के बीच का मार्ग है। इस मध्यमा प्रतिपद में कुल आठ सोपान हैं। अतः इसे अष्टांगिक मार्ग भी कहते हैं। यह साधना का वह मार्ग है जो मनुष्य को वांछित लक्ष्य तक पहुँचाता है। इसके आठों सोपान निम्नलिखित हैं—

1- सम्यक् दृष्टि

महात्मा बुद्ध के अनुसार, दुःखों का कारण अविद्या या मिथ्या दृष्टि है। बौद्ध दर्शन में दुःखद, अनित्य, अयथार्थ एवं हेय विषयों को सुखद, नित्य, यथार्थ एवं उपादेय समझना मिथ्या दृष्टि है, अतः इस मिथ्या दृष्टि का परित्याग करके वस्तुओं के असली स्वरूप को समझना तथा चार आर्य सत्यों का ज्ञान रखना बौद्ध दर्शन के अनुसार सम्यक् दृष्टि है।

2. सम्यक् संकल्प

आर्य सत्यों के ज्ञान के अनुरूप आचरण करने का दृढ़ निश्चय बौद्ध दर्शन में सम्यक् संकल्प है। यहाँ निर्वाण चाहने वाला व्यक्ति सांसारिक विषयों में आसक्ति, दूसरों के प्रति विद्वेष और हिंसा का परित्याग करने का दृढ़ निश्चय करता है।

3. सम्यक् वाक्

सम्यक् संकल्प के अनुरूप वाणी का नियन्त्रण सम्यक् वाक् है। इसमें मिथ्यावादिता, निन्दा, दुर्वचन और वाचलता का परित्याग तथा सत्य भाषण अपेक्षित है।

4. सम्यक् कर्मान्त

बौद्धों के अनुसार सम्यक् संकल्प के अनुरूप कर्म का नियमन सम्यक् कर्मान्त है। कर्मणा अहिंसा, अस्तेय तथा इन्द्रिय-संयम अर्थात् इन्द्रिय भोग का परित्याग एवं ब्रह्मचर्य पालन ही सम्यक् कर्मान्त है।

5. सम्यक् आजीव

बौद्धों के अनुसार लोकसम्मत उपायों से अर्थात् न्यायपूर्ण तरीके से जीविकोपार्जन करना सम्यक् आजीव है। बौद्ध दर्शन के अनुसार यह इसलिए आवश्यक है क्योंकि निशिद्ध उपायों से जीविकोपार्जन करने से मनुष्य में बुरी प्रवृत्तियाँ आती हैं।

6. सम्यक् व्यायाम

महात्मा बुद्ध इस बात पर जोर देते हैं कि वाणी और कर्म को धर्म मार्ग की ओर प्रेरित करने वाली भावनाएं शुद्ध हों। उनके अनुसार इसके लिए व्यक्ति को इस बात का सतत् प्रयास करना चाहिए कि मन के पुराने बुरे भाव नष्ट हो जाँय, नये बुरे भाव मन में पुनः न प्रविष्ट हों, मन सदैव अच्छे विचारों से युक्त रहे, तथा मन में इन अच्छे विचारों को धारण करने की सतत् चेश्ठा होती रहे। इस प्रकार का प्रयत्न बौद्ध दर्शन के अनुसार सम्यक् व्यायाम है।

7. सम्यक् स्मृति

बुद्ध के अनुसार आर्य सत्यों के मार्ग पर चलने के लिए आवश्यक है कि ज्ञात विशयों की स्मृति सदैव बनी रहे, क्योंकि इस बात की सम्भावना बनी रहती है कि ज्ञात विशय विस्मृत हो जाय और व्यक्ति पुनः सांसारिक विशयों में लिप्त हो जाय। इसके लिए बुद्ध इस बात पर बल देते हैं कि शरीर, वेदना, चित्त एवं धर्म की क्षणिकता का ठीक-ठीक स्मरण रखना आवश्यक है। सम्यक् स्मृति से शरीर, वेदना, चित्त एवं धर्म के प्रति व्यक्ति का कोई अनुराग नहीं होता, फलस्वरूप वह तज्जन्य दुःखों का भागी नहीं होता।

8. सम्यक् समाधि

सम्यक् समाधि का अर्थ है, चित्त की एकाग्रता द्वारा प्रज्ञा की अनुभूति। बौद्ध धर्म में समाधि की चार अवस्थाओं का वर्णन प्राप्त होता है। समाधि की प्रथम अवस्था सवितर्क, सविचार और विवेक से उत्पन्न प्रीति वाली अवस्था है। इसमें व्यक्ति भ्रान्त चित्त से आर्य सत्यों का तर्कपूर्वक चिन्तन करता है तथा भुद्ध विचार के कारण अपूर्व आनन्द तथा भ्रान्ति का अनुभव करता है। द्वितीय अवस्था में प्रगाढ़ चिन्तन के कारण वितर्क और विचार भ्रान्त हो जाते हैं और भ्रान्ति तथा चित्तैकाग्रता से युक्त आनन्द प्राप्त होता है। तृतीय अवस्था में मन आनन्द और भ्रान्ति से भी हटकर उपेक्षाभाव को प्राप्त करता है। इसमें चित्त की साम्य अवस्था तथा दैहिक सुख का भाव बना रहता है। समाधि की चतुर्थ अवस्था में साम्य अवस्था, दैहिक सुख एवं समाधि का आनन्द, किसी का भी ज्ञान नहीं होता। यह अवस्था पूर्ण भ्रान्ति, पूर्ण विराम तथा पूर्ण निरोध की अवस्था है। यह सुख-दुख से रहित है। इसमें प्रज्ञा का उदय होता है और सभी दुःखों का निरोध हो जाता है।

अष्टांगिक मार्ग का बौद्ध धर्म में महत्वपूर्ण स्थान है। इसकी महत्ता को समझाते हुए गौतम बुद्ध ने कहा था कि भिक्षुओं जिस प्रकार गंगा, यमुना, अचिरावती, सरयू और मही नदियाँ पूर्व की ओर बहने वाली तथा समुद्र की ओर अभिगामिनी होती हैं। उसी प्रकार भिक्षुओं अभ्यास करने पर अष्टांगिक मार्ग, निर्वाण की ओर ले जाने वाला है। आचार्य अ. व. घोष ने सौन्दरानन्द में अष्टांगिक मार्ग को त्रिस्कंध यथा-शील समाधि और प्रज्ञा में विभाजित किया है। प्रज्ञा के अन्तर्गत सम्यक् दृष्टि और सम्यक् संकल्प आते हैं। शील में सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव और सम्यक् व्यायाम का समावेश होता है जबकि समाधि के अन्तर्गत सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि आते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चतुर्थ आर्य सत्य में निर्वाण प्राप्ति के लिए शील समाधि और प्रज्ञा की शिक्षा दी गयी है। बौद्ध दर्शन में इसे 'त्रिशिक्षा' कहा जाता है। बुद्ध के अनुसार जो शील में प्रतिष्ठित है, समाधि और प्रज्ञा की भावना रखता है वह मनुष्य प्रज्ञावान एवं वीर्यवान होकर तृष्णा का नाश करके निर्वाण प्राप्त करता है।

अष्टांग अतिरिक्त महात्मा बुद्ध ने नैतिक आचरण के लिए दस शील भी बतलाये, जो निर्वाण प्राप्ति हेतु आवश्यक थे। इन दस शीलों का अनुशीलन नैतिक जीवन का आधार है। इन दस शीलों को 'शिक्षापद' भी कहा गया है। महात्मा बुद्ध द्वारा बतलाये गये दस शील इस प्रकार हैं—

1. अहिंसा
2. सत्य
3. अस्तेय (चोरी न करना)
4. अपरिग्रह (सम्पत्ति का परित्याग)
5. ब्रह्मचर्य
6. संगीत और नृत्य का त्याग
7. अंजन, फूल और सुवासित द्रव्यों का त्याग
8. असामायिक भोजन का त्याग
9. सुखद भाय्या का त्याग
10. कामिनी और कंचन का त्याग।

उक्त शीलों में प्रथम पाँच, जिसे पंच शील कहा गया है, गृहस्थियों के लिए था। साधु—महात्माओं और भिक्षुओं को समस्त शीलों का पालन करना अनिवार्य था। महात्मा बुद्ध के ये संदेश सबके लिए हैं। नर और नारी, युवा और वृद्ध, अमीर और गरीब सभी समान रूप से उन पर आचरण कर सकते हैं और इस जीवन—मरण के चक्र से मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि बुद्ध द्वारा गवेषणा किये गये दुःख, दुःख समदाय, दुःख निरोध, तथा दुःख निरोध गामिनी प्रतिपदा — इन 'चार आर्य सत्यों' में चतुर्थ आर्य सत्य की देशना में बुद्ध ने अष्टांगिक मार्ग का विधान प्रस्तुत किया जिसके अनुकरण से समस्त दुःखों का प्रहाण हो जाता है।

चार आर्य सत्य एवं दश शीलों के अतिरिक्त महात्मा बुद्ध की उन शिक्षाओं पर दृष्टिपात करना भी प्रासंगिक है, जो उन्होंने जनसामान्य को दिया था, जो पथ प्रदर्शक की भाँति हमारे मार्ग को निर्देशित करती रही हैं। उनके वे दृष्टान्त, कथायें

एवं शिक्षायें इतनी मार्मिक एवं व्यावहारिक हैं कि वह जनसामान्य के हृदय में स्वतः प्रवेश कर जाती थीं और मनुष्य को उनकी महत्ताओं पर सोचने के लिए विवश कर देती थीं। महात्मा बुद्ध की नैतिक शिक्षायें अनूठी थीं। ये शिक्षायें मनुष्य को समाज की वास्तविकताओं एवं स्वयं उसके विचारों से परिचित कराती रही हैं। धम्मपद में महात्मा बुद्ध द्वारा दिये गये उपदेश संकलित है। यह मनुष्य का प्रारम्भ से स्वभाव रहा है कि वह प्रत्येक कार्य में दूसरों के ही दोष को देखता है और उसको अपने दोष का अहसास तक नहीं होता। इस सम्बन्ध में महात्मा बुद्ध का कथन है—“दूसरों के दोष देखना सरल है, किन्तु अपना दोष देखना कठिन है। मनुष्य अपने पड़ोसी के दोषों को तो भूसे की भाँति उड़ाता है किन्तु अपने दोषों को वैसे ढांकता है, जैसे कोई कपटी एवं खोटे पासे का जुआरी।” उनकी सरल शिक्षा का प्रमुख प्रभाव बाद के धर्मों पर भी पड़ा। धम्मपद में वर्णित है कि द्वेष से द्वेष कदापि दूर नहीं होता है। तथागत की शिक्षा थी कि हमें आनन्दपूर्वक रहना चाहिए, जो हमसे विरोध करे, हमें उनका विरोध नहीं करना चाहिए। जो हमसे द्वेष करते हैं, उनके मध्य रहते हुए भी हमें द्वेष से दूर रहना चाहिए। क्रोध पर प्रेम से और बुराई पर भलाई से विजय प्राप्त करना चाहिए।

धम्मपद में महात्मा बुद्ध के नीतिपरक उपदेश एवं शिक्षायें भरी पड़ी है। धम्मपद के अनुसार एक मनुष्य जब उन्हें उदण्डतापूर्वक गाली दे रहा था तो वे उस समय इस महान शिक्षा का प्रचार कर रहे थे कि जो मनुष्य मूर्खतापूर्वक मेरी बुराई करता है, उसका मैं अपने अविरोधी प्रेम से रक्षा करूँगा, जितनी ही वह मेरी बुराई करेगा, उतना ही मैं उसकी भलाई करूँगा। वह मनुष्य महात्मा बुद्ध का तिरस्कार करना एवं गालियाँ देना छोड़कर उनका अनुयायी बन गया।

महात्मा बुद्ध ने सज्जनों का तिरस्कार करने वालों को भी उपदेश दिया। महात्मा के अनुसार सज्जनों का तिरस्कार करने वाले पापी मनुष्य का कार्य वैसा ही होता है, जैसे कोई ऊपर देखकर आकाश पर थूके, उसका थूक आकाश को तो नहीं छू सकता अपितु लौटकर उसी मनुष्य को मलिन कर देता है। पुनः उसका कार्य वैसा है जैसा कोई वायु के विपरीत प्रवाह में दूसरे पर धूल उड़ाये। उस समय

धूल, उड़ाने वाले पर ही आकर गिरेगी। अतः सज्जन व्यक्ति आहत नहीं होता, उसे दुःख देने वाला स्वयं ही दुःख से ग्रस्त हो जाता है।

महात्मा बुद्ध द्वारा इतनी सरल एवं सुस्पष्ट भाषा में दिये गये उपदेशों को जनसामान्य ने अति सरलता से ग्रहण किया और उनके अनुयायी बनते गये। सांसारिक सुख में लीन लोगों को महात्मा बुद्ध ने उपदेश दिया— पुत्र मेरा है, धन मेरा है, ऐसा करके अज्ञ (न जानने वाला) मनुश्य उत्पीड़ित होता है। जब आत्मा (शरीर) ही अपना नहीं तो कहाँ से पुत्र और धन अपना होगा।

महात्मा बुद्ध के भौतिक पथ का प्रथम चरण सद्विचार और बौद्धिक दृष्टिकोण का था। उन्होंने अपने अनुयायियों को अध्यात्मिक स्वतंत्रता से कभी वंचित नहीं किया। उन्होंने भिक्षुओं से कहा, उन जैसे बनो, जिनकी आत्मा प्रकाशित है, उन जैसे बनो जिनकी आत्मा आश्रय स्थल है, जैसे किसी आधार का आश्रय लेते हो तो सत्य के दृढ़ आधार के आश्रय बनो। महात्मा बुद्ध कर्मवादी थे। कर्मों को विभाजन करने के कारण उन्हें विभाज्यवादी भी माना जाता है। बौद्ध धर्म के अनुसार कर्म और उसका विपाक (फल), ये दो ही विद्यमान हैं। कर्म से विपाक होता है और विपाक से कर्म और फिर कर्म से पुनर्जन्म, इस प्रकार यह संसार चल रहा है।

कम्पा विपाका वत्तन्ति, विपाको कम्मसम्भवो।

कम्पा पुनर्भवो होति एवं लोको पवन्तिति।।

बुद्ध के अनुसार व्यक्ति को काया, वाणी एवं मन से सदा कुशल कर्म करने चाहिए तथा अकुशल कर्म को छोड़ देना चाहिए। कर्म से ही कोई ऊँच—नीच होता है। कर्म से ही कोई ब्राह्मण देवता होता है तो कोई नीच होता है। उनके अनुसार जन्म से न तो कोई ब्राह्मण होता है और न ही नीच। मज्झिमनिकाय में उन्होंने भिक्षुओं को कर्म की महत्ता समझाते हुए कहा है कि कर्म ही प्राणियों को हीनता और उत्तमता में विभक्त करता है। इस से कर्म के प्रति महात्मा बुद्ध का मन्तव्य स्पष्ट होता है। उनके अनुसार अच्छे—बुरे कर्म के कारण ही व्यक्ति अच्छा—बुरा होता है। पापों को न करना, पुण्यों का संचय करना, अपने चित्त को परिशुद्ध करना—यही बुद्ध की शिक्षा है।

वस्तुतः मानव समाज को सुधारने के लिए जितनी बातें होनी चाहिए, वह सभी महात्मा बुद्ध के उपदेशों में हमें प्राप्त होती हैं। इससे निम्न से निम्न एवं उच्च से उच्च वर्ग प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। महात्मा बुद्ध ने दार्शनिक भूल-भुलझियों में किसी को नहीं डाला अपितु छोटे-छोटे उदाहरणों द्वारा लोगों की समस्याओं का समाधान करते रहे। पं. गंगानाथ उपाध्याय के अनुसार वे जो कुछ कहते थे, उसके लिए बहुत अच्छा उदाहरण देते थे। उनके उपदेश में सूखापन नहीं था। बात चित्त में गड़ जाती थी। ऐसे छोटे, सरल और सर्वपरिचित उदाहरण बहुत कम सुधारकों के उपदेश में मिलते हैं।

महात्मा बुद्ध का उद्देश्य मानव समाज का सुधार करना था। कार्य कारण की अटूटता के विषय में उनका विचार है कि यदि कोई मनुष्य प्रदुष्ट मन से बोलता है तो दुःख उसी प्रकार उसका अनुसरण करता है जैसे बैल के पैरों के पीछे-पीछे गाड़ी के पहिये। यदि कोई पवित्र मन से बोलता है या कार्य करता है तो सदा साथ रहने वाली छाया की भाँति सुख उसका अनुसरण करता है। जिसने थोड़ा-सा भी शुभ कार्य किया है, वह इहलोक के साथ-साथ परलोक में भी सुख एवं परम लाभ प्राप्त करता है, उसका वह कार्य उस बीज के समान है जिसकी जड़ गहरी जाती हो। जिसने कोई पाप कर्म किया है, वह कभी उससे मुक्त नहीं हो सकता है, चाहे उसने वह कर्म चिरकाल पूर्व किया हो या किसी सुदूर देश या चाहे एकान्त में ही क्यों न किया हो, किन्तु वह उसे फेंक नहीं सकता है। एक बार कर चुकने पर उससे छुटकारा नहीं मिलता।

महात्मा बुद्ध कामना को मनुष्य के दुखों का कारण मानते थे और जनसामान्य को उससे मुक्त रहने की सलाह देते थे। उनके अनुसार कामना से ही दुःख एवं भय (भ्रम) होता है। कामना से मुक्त व्यक्ति को न तो दुःख होता है और न भय। कामना से ग्रस्त जीव के लिए इससे मुक्त होना अत्यन्त कठिन हो जाता है। जो स्थिर बुद्धि मनुष्य कामनाजनित सुखों की अपेक्षा नहीं रखता, वही उसे त्यागता है और शीघ्र ही उससे विदा ले लेता है। जैसे एक मोची अपने चमड़े को भली प्रकार तैयार कर लेने पर उससे जूते बनाने का काम ले सकता है, उसी प्रकार कामनाओं के उपशमन पर मनुष्य परम सुख की प्राप्ति कर सकता है कामनायें

कभी भी तृप्त नहीं होती, केवल ज्ञान ही संतोष का दाता है सम्यक् बुद्ध का शिष्य तो देवताओं के सुखों को भी सुख नहीं मानता है, वह तो कामनाओं के नाश में ही हर्षित होता है।

महात्मा बुद्ध की उपर्युक्त शिक्षा का सार यही है कि अशुभ कार्यों को मत करो, शुभ कर्मों का अभ्यास करो, चित्त पर पूर्ण नियंत्रण रखो। यही बुद्ध की शिक्षा है। उल्लेखनीय है कि महात्मा बुद्ध स्वयं को उच्चकोटि का ज्ञाता या विद्वान नहीं मानते थे। वे जनसाधारण को यही शिक्षा देते थे कि स्वयं पर कभी गर्व न करो, अपने ज्ञान से अभिमानी मत बनो, तुम्हारे द्वारा जानने के लिये यह संसार पड़ा हुआ है। मज्झिमनिकाय में वर्णित है कि बुद्ध कहते थे कि जो लोग मुझे सर्वज्ञ मानते हैं, वे मेरी निन्दा करते हैं। मत मतान्तर की वैभिन्नता के कारण उन्होंने अपने शिष्यों को उपदेश दिया कि अपने सामने उपस्थित समस्त कार्यक्रमों को तर्क की कसौटी पर कसकर स्वीकार करना चाहिए न कि उसके मूलकर्ताओं के प्रति सम्मान प्रकट करने हेतु। वे कहते हैं कि कही-सुनी बातों को स्वीकार मत करो, परम्परा को स्वीकार मत करो। अधीरता में यह न मान लो कि यह ग्रंथ में मिलता है, न इसलिए कि वह लोकमान्य है और न इसलिए कि वह गुरु वाक्य है। इस प्रकार महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं के अध्ययन से विदित होता है कि किसी बात पर तभी विश्वास करना चाहिए जब स्वयं उस बात का पता लगा लें। स्वयं उसका परीक्षण एवं निरीक्षण करने के बाद ही किसी को दोषी ठहराना चाहिए। मज्झिमनिकाय में एक स्थान पर महात्मा बुद्ध वशिष्ठ जी से कहते हैं कि जिस ब्रह्म की बात करते हो, क्या उसे तुमने देखा है या उसे दूसरे को दिखा सकते हो। यदि ऐसा नहीं कर सकते हो, तो तुम अन्धों की पंक्तियों की तरह चल रहे हो और तुम्हारा सारा प्रलाप व्यर्थ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महात्मा बुद्ध अपनी शिक्षाओं में कर्म एवं तर्क की महत्ता पर बल देते थे। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर अन्त में हम निष्कर्षतः कह सकते हैं कि बुद्ध के उपदेश एवं शिक्षाओं का मूल लक्ष्य मानव जाति को उसके दुःखों से त्राण दिलाना था और इस रूप में उनका नाम मानवता के महान पुजारियों में सदैव अग्रणी रहेगा। श्रावस्ती के एक मर्म स्पर्शी दृष्टांत से स्पष्ट होता है कि वे

मानवता के महान पुजारी थे और जनसेवा को ही जीवन का लक्ष्य मानते थे। उन्होंने श्रावस्ती के तिस्स नामक भिक्षु, जो त्वचा रोग से ग्रसित था, की स्वयं परिचर्या की। उन्होंने भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए कहा था कि “तुम लोगों के माता-पिता नहीं हैं, इसलिए तुम लोग एक दूसरे के माता-पिता बनो।”¹⁴⁹ यह व्याख्यान महामानव बुद्ध के मानव प्रेम एवं जनसेवा की भावना को अभिव्यक्त करता है। महात्मा बुद्ध के उपदेश एवं शिक्षाओं में मुख्यतः अहिंसा, प्राणियों पर दया, सत्य-भाषण, माता-पिता की सेवा, गुरुजनों का सम्मान, ब्राह्मणों तथा श्रमणों को दान, मित्रों, परिचितों एवं सम्बंधियों आदि के साथ अच्छा बर्ताव करना इत्यादि बातों पर बल दिया गया है, जो कि सभ्य मानव समाज में सभी के लिये समान रूप से श्रद्धेय हैं।
